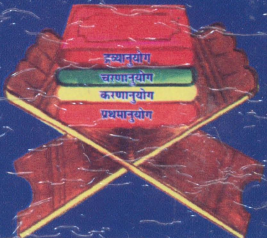

जिनागम के अनमोल रत्न

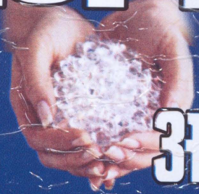

- पं. राजकुमार जैन 'शास्त्री', गुना

जिनागम के अनमोल रत्न

(चालीस जिनागम ग्रन्थों का अपूर्व संकलन)

मङ्गल कामना :

'जैनरत्न' वाणीभूषण पं. ज्ञानचन्द जैन

विदिशा वाले, सोनागिर (म.प्र.)

संकलन :

पं. राजकुमार जैन 'शास्त्री'

'अभिवादन' सोनी कॉलोनी, गुना (म.प्र.)

संपादक :

डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री एम.ए.

ज्ञानानन्द निवास, किला अंदर, विदिशा (म.प्र.)

प्रकाशक :

आचार्य कुन्दकुन्द साहित्य प्रकाशन समिति

गुना (म.प्र.)

प्रथम संस्करण : 5000 प्रतियाँ

सर्वाधिकार सुरक्षित

न्यौछावर : 20/-

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिग. जैन महावीर जिनालय**
   जैन मंदिर गली, जय स्तंभ चौराहा, गुना (म.प्र.)

2. **श्री दिग. जैन सीमंधर जिनालय**
   बजरंगढ़ रोड, गुना (म.प्र.)
   फोन : 07542-223999, 9407569883

3. **श्री कुन्दकुन्द-कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट**
   ज्ञानानन्द निवास, किला अन्दर, विदिशा (म.प्र.)
   फोन : 07592-232234, 405870, 9425148507

4. **श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सोनागिर**
   आचार्य कुन्दकुन्द नगर, सिद्धक्षेत्र सोनागिर
   जिला-दतिया (म.प्र.) फोन : 07522-262307, 262210

मङ्गल कामना

सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के सुप्रसिद्ध पंच परमागम ग्रंथ श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ एवं पञ्चास्तिकाय में मानों आचार्यदेव ने जिनागम का रहस्य भर दिया है तथा वीतरागता के ही पोषक चारों अनुयोगों के और भी अनेक ग्रन्थ श्री योगसार, परमात्म प्रकाश, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, तत्त्वानुशासन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ज्ञानार्णव, भगवती आराधना, पद्मनन्दि पंचविंशति, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, तत्त्वसार, रयणसार, वृहद् द्रव्य संग्रह, पञ्चाध्यायी पुरुषार्थसिद्धियुपाय, आत्मानुशासन, अमृताशीति, गोम्मटसार आदि चालीस जिनागम ग्रन्थों का युवारत्न विद्वान पं. राजकुमारजी शास्त्री गुना ने दस वर्ष तक गहन अध्ययन पूर्वक जो सुन्दर संकलन किया है वह अद्भुत एवं बारम्बार पठन-चिन्तन-मनन एवं अनुभवन योग्य है।

पं. राजकुमारजी स्वयं ही अति आत्मार्थी/गहन स्वाध्यायी एवं तत्त्व रसिक है जिनके द्वारा गुना में जयस्तंभ चौराहे पर जैन मंदिर गली में स्थित श्री महावीर जिनालय के विशाल हॉल में प्रतिदिन प्रातः 9 बजे से 10 बजे तक आध्यात्मिक/मार्मिक एवं प्रभावक शैली में ओजस्वी व्याख्यान इन्हीं जिनागम ग्रन्थों पर चलते हैं, जिसका दो सौ से भी अधिक साधर्मीजन प्रतिदिन धर्मलाभ लेकर अपने को कृतकृत्य/धन्य-धन्य अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत चालीस ग्रंथों की सारभूत यह आध्यात्मिक कृति '**जिनागम के अनमोल रत्न**' उनके माध्यम से हमें सहज ही प्राप्त होकर प्रकाशित हो गई है...उन्होंने स्पष्ट कहा कि इसमें एक भी शब्द मेरा नहीं है यह तो दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा आत्मानुभव की कलम से लिखा गया अमृत है जो पान करेगा वह अमरता को प्राप्त हो जायेगा। मैंने तो 'स्वान्तः सुखाय' इन रत्नों का संकलन किया है। सभी स्वाध्यायी/आत्मार्थीजन भी इन जिनागम रत्नों को पाकर अपने अनंतगुण रूपी चैतन्य रत्नाकर को प्राप्त कर पर्याय में भी अनंत वैभव सम्पन्न बने, इसी भावना के साथ।

दशलक्षण महापर्व **-वाणीभूषण पं. ज्ञानचन्द जैन, सोनागिर**

अनंत चतुर्दशी 22 सितम्बर 2010

प्रकाशकीय

सम्पूर्ण जिनागम चारों अनुयोगों में निवद्ध है एवं समस्त द्वादशांगमयी जिनवाणी वीतरागता की पोषक है मानों जिनवाणी माँ के एक-एक शब्द में से अमृत का झरना झरता है...इसी के साथ आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इन ग्रंथों पर आध्यात्मिक सारभूत प्रवचन करके और भी अधिक सरल एवं सुगम बना दिया है।

प्रस्तुत कृति युवारत्न विद्वान पं. राजकुमारजी शास्त्री, खनियाँधाना वाले, गुना जब पं. टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर से उपाध्याय-शास्त्री आदि के अध्ययन पूर्वक परीक्षा उत्तीर्ण कर मौ (भिण्ड, म.प्र.) में दस वर्ष रहे, वहाँ भी सरकारी जैन माध्यमिक विद्यालय में अध्यापक के साथ-साथ जिनमंदिरजी में प्रात: एवं रात्रि दोनों समय मौ समाज को स्वाध्याय का लाभ देते हुए, उसी समय आपके द्वारा जिनागम के चालीस महत्वपूर्ण ग्रन्थों का दस वर्ष तक गहन अध्ययन पूर्वक मुख्य-मुख्य सारभूत विषयों को एक डायरी में लिपिबद्ध किया, जिसे वह प्रतिदिन स्वाध्याय पूर्वक चिन्तन-मनन करते हैं।

उक्त डायरी जब दो-तीन वर्ष पूर्व हम सभी ने देखी तभी से प्रकाशित कराने की भावना थी और उनकी स्वीकृति मिलते ही इसके प्रकाशन की रूपरेखा बनी तथा पूज्यश्री कानजी स्वामी की 121वीं जन्म जयंति (उपकार दिवस) के उपलक्ष्य में उक्त **'जिनागम के अनमोल रत्न'** कृति प्रकाशित करते हुए हम सभी अत्यन्त गौरवान्वित एवं प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि सभी आत्मार्थी/साधर्मी जन अपने दैनिक स्वाध्याय में इस कृति को अवश्य अध्ययन/तत्त्वनिर्णय पूर्वक निरन्तर चिन्तन-मनन करेंगे तथा अपने मनुष्य जन्म को रत्नत्रय से सुरभित करेंगे।

इसके प्रकाशन में संकलनकर्ता पं. श्री राजकुमारजी शास्त्री गुना, मङ्गलकामना हेतु वाणीभूषण पं. ज्ञानचन्दजी सोनागिर, संपादन हेतु डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री विदिशा एवं कम कीमत में ज्ञानदान स्वरूप सहयोगी राशि देने की जिन्होंने भावना व्यक्त की, उन सभी के हम हृदय से आभारी है। पुनश्च उक्त कृति सभी के आत्मकल्याण में निमित्तभूत हो। इसी पवित्र भावना के साथ।

अध्यक्ष	मंत्री	कोषाध्यक्ष
कमलकुमार जैन 'रेडीमेड'	**सुगनचन्द जैन 'बंधु'**	**राजकुमार जैन**

एवं समस्त सदस्यगण, आचार्य कुन्दकुन्द साहित्य प्रकाशन समिति, गुना **फर्म बाबूलाल प्रकाशचंद जैन**

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ सं.
❖	मङ्गलाचरण	6
1.	परमानन्दस्तोत्र	8
2.	योगसार	9
3.	परमात्म प्रकाश	14
4.	यतिभावनाष्टकम्	24
5.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी	25
6.	नियमसार	38
7.	इष्टोपदेश	48
8.	समाधितन्त्र	53
9.	उपदेश सि. रत्नमाला	57
10.	तत्त्वानुशासन	65
11.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	68
12.	भगवती आराधना	70
13.	ज्ञानार्णव	87
14.	पद्मनन्दि पंचविंशति	103
15.	सुभाषित रत्न संदोह	110
16.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	115
17.	स्वयंभू स्तोत्र	119
18.	तत्त्वसार	120
19.	रयणसार	122
20.	सज्जन चित्तबल्लभ	124
21.	अष्टपाहुड़	127
22.	वृहद् द्रव्य संग्रह	137
23.	श्रुतभवन दी. नयचक्र	138
24.	पञ्चाध्यायी	140
25.	पुरुषार्थ सिद्धियुपाय	144
26.	आत्मानुशासनम्	150
27.	अमृताशीति	157
28.	बारस अणुबेक्खा	160
29.	अध्यात्म रहस्य	161
30.	श्री मन्दालसा स्तोत्र	164
31.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	167
32.	पंचास्तिकाय	171
33.	समयसार	173
34.	समयसार कलश	181
35.	पाहुड़ दोहा	192
36.	भव्यामृत शतक	196
37.	प्रवचनसार	198
38.	लाटी संहिता	205
39.	योगसार प्राभृत	210
40.	समयसार नाटक	214

विभिन्न जिनागम से उद्धृत् सोलह— **मङ्गलाचरण**

वंदितु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड़मिणमो सुदकेवलीभणिदं।।

(समयसार, आ. कुन्दकुन्द देव)

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्व भावान्तरच्छिदे।।

(समयसार कलश, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी)

एस सुरासुरमणुसिंद वंदिदं धोदघाइ कम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस कत्तारं।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्ध सब्भावे।
समणे य णाण दंसणचरित्त तववीरियायारे।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते।।
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।।
तेसिं विसुद्धदंसण णाणहाणासमं समासेज्ज।
उपसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती।।

(प्रवचनसार, आ. कुन्दकुन्द देव)

सर्वव्याप्येक चिद्रूप, स्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय, ज्ञानानन्दात्मने नमः।।

(प्रवचनसार कलश, आ. अमृतचन्द्र स्वामी)

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाण दंसण सहावं।
बोच्छामि णियमसारं, केवलि सुदकेवलि भणिदं।।

(नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द देव)

त्वयि सति परमात्मान्मादृशान्मोहमुग्धान्।
कथमतनुवशत्वान्बुद्ध केशान्यजेऽहं ।।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा,
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा।।

(नियमसार कलश, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव)

इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं।।

(पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द देव)

सहजानन्द चैतन्य, प्रकाशाय महीयसे।
नमो अनेकान्त, विश्रान्त महिम्ने परमात्मने।।

(पंचास्तिकाय संग्रह कलश, आ. अमृतचन्द्र स्वामी)

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमास्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण।।

(अष्टपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द देव)

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा।।

(बृहद् द्रव्यसंग्रह, आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव)

तज्जयति परमज्योतिः समं समस्तैरनन्त पर्यायैः।
दर्पण तल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।।

(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, आ. अमृतचन्द्र स्वामी)

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूत कलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र स्वामी)

मोक्षमार्गस्य नेत्तारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वन्दे तद्गुण लब्ध्ये।।

(तत्त्वार्थ सूत्र, आ. उमास्वामी)

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार।
वन्दौ परमानन्दमय समयसार अविकार।।

(नाटक समयसार, कविवर बनारसीदासजी)

मंगलमय मंगल करन, वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जाते भये, अरहन्तादि महान।।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमलजी)

तीन भुवन में सार वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिके।।

(छहढाला, पं. दौलतरामजी)

(1) परमानन्दस्तोत्र

स एव परमं ब्रह्मं, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरूः।।16।।
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मनः।।17।।
स एव सर्व कल्याणं, स एव सुख भाजनं।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमं शिवम्।।18।।
स एव परमानन्दं, स एव सुखदायकः।
स एव परचैतन्यं, स एव गुणसागरः।।19।।

अर्थ :- वह परमध्यानी योगी मुनि ही परमब्रह्म, कर्मों को जीतने वाला जिनश्रेष्ठ, शुद्धरूप हो जाने से परम आत्मतत्त्व, जगतमात्र के लिये हित के उपदेशक होने से परमगुरू, समस्त पदार्थों के प्रकाश करने वाले ज्ञान से युक्त हो जाने से परम ज्योति, ध्यान-ध्याता के अभेदरूप हो जाने से शुक्लध्यान रूप परमध्यान व परम तपरूप परमात्मा के यथार्थ स्वरूपमय हो जाते हैं- वही परमध्यानी। मुनि ही सर्व प्रकार के कल्याणों से युक्त, परमसुख के पात्र, शुद्ध चिद्रूप, परम शिव कहलाते हैं और वही परमानन्दमय, सर्व सर्वसुखदायक, परम चैतन्य आदि अनन्त गुणों के समुद्र हो जाते हैं।

पाषाणेषु यथाहेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः।।22।।
काष्ठमध्ये यथा बन्हिः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः।।24।।

अर्थ :- जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में सोना, दूध में घी और तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर में शिवरूप आत्मा विराजता है। जैसे काष्ठ के भीतर आग शक्तिरूप से रहती है, उसी प्रकार शरीर के भीतर यह शुद्ध आत्मा विराजमान है। इस प्रकार जो समझता है वही वास्तव में पण्डित हैं।

(2) योगसार

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम शिवसुक्ख लहेवि।।5।।
जो चउ गति दुख से डरे, तो तज सब पर भाव।
कर शुद्धातम चिन्तवन, शिव-सुख यही उपाव।।

अर्थ :- हे जीव! यदि तू चतुर्गति के भ्रमण से भयभीत है, तो परभाव का त्याग कर और निर्मल आत्मा का ध्यान कर, जिससे तू मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सके।

शुद्धप्पा अरु जिणबरहं भेउ म किमपि बियाणि।
मोक्खह कारण जोइया णिच्छइ एउ बियाणि।।20।।
जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचित् भेद न जान।
मोक्ष अर्थ हे योगिजन! निश्चय से पहिचान।।

अर्थ :- हे योगी! अपने शुद्धात्मा में और जिन-भगवान में कुछ भी भेद न समझो-मोक्ष का साधन निश्चय से यही है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारू।
इह जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारू।।21।।
जो जिन सो आतम लखो, निश्चय भेद न रंच।
यही सार सिद्धान्त का, छोड़ो सर्व प्रपंच।।

अर्थ :- जो जिन-भगवान है वही आत्मा है- यही सिद्धांत का सार समझो। इसे समझकर हे योगीजनों! मायाचार को छोड़ो।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेबिणु जोइया अण्णु म करहु बियप्पु।।22।।
जो परमातम सोहि मैं, जो मैं सो परमात्म।
ऐसा जान जु योगिजन, करिये कुछ न विकल्प।।

अर्थ :- जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है-यह समझकर हे योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ पावएं णरयणिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिबबासु।।32।।
लहे पुण्य से स्वर्ग सुख, पड़े नरक कर पाप।
पुण्य-पाप तज आप में, रमैं लहै शिव आप।।

अर्थ :- पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक में जाता है। जो इन दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

को सुसमाहि करउ को अंचउ,
छोपु-अछोपु करिवि को बंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ,
जहां कहिं जोबउ तहिं अप्पाणउ।।40।।
कौन किसे समता करे, सेवे पूजे कौन।
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कौन को कौन।।
कौन किसे मैत्री करे, किसके साथ कलेश।
जहं देखूं तहं सर्व जिय, शुद्ध-बुद्ध ज्ञानेश।।

अर्थ :- कौन तो समाधि करे, कौन अर्चन-पूजन करे, कौन स्पर्श-अस्पर्श करके वंचना करे, कौन किसके साथ मैत्री करे और कौन किसके साथ कलह करे-जहाँ देखो वहाँ आत्मा ही आतमा दृष्टिगोचर होता है।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि बुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु।।
तीर्थ-मन्दिर में देव नहिं, यो श्रुतकेवली बानि।
तन मन्दिर में देव जिन, यह निश्चय से जान।।

अर्थ :- श्रुत-केवली ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह-देवालय में विराजमान है-इसे निश्चित समझो।

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ।।43।।
तन-मन्दिर में देव जिन, जन मन्दिर देखंत।
हास्य मुझे दीखे अरे! प्रभु भिक्षार्थ भ्रमंत।।

अर्थ :- जिनदेव देह-देवालय में विराजमान हैं, परन्तु जीव (ईंट-पत्थर के) देवालयों में देखता फिरता है - यह मुझे कितना हास्यास्पद लगता है, जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भी भिक्षा के लिये भ्रमण करे।

शास्त्र पढ़ैं मठ में रहै, शिर के लुंचैं केश।
पिछी-कमण्डल के धरें, धर्म न होता लेश।।47।।

आउ गलइ णवि मणु गलई णवि आसा हु गलेइ।
मोह फुरइ गवि अप्प हिउ इम संसार भमेई।।49।।
आयु गलै मन ना गलै, गलै न इच्छा मोह।
आतम हित धरते नहीं, यों भ्रमते संसार।।

अर्थ :- आयु गल जाती है पर मन नहीं गलता और न ही आशा गलती है। मोह स्फुरित होता है परन्तु आत्महित स्फुरित नहीं होता - इस तरह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

जेहउ मणु बिसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिब्बाणु लहेइ।।50।।
ज्यों मन विषयों में रमें, त्यों हो आतम लीन।
शीघ्र मिलै निर्वाणपद, धरै न देह नवीन।।

अर्थ :- जिस तरह मन विषयों में रमण करता है, उस तरह यदि वह आत्मा को जानने में रमण करे, तो हे योगिजनों! योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाये।

व्यवहारिक धंधों फंसे, करे न आतम ज्ञान।
यह कारण जग जीव ये, पावे नहिं निर्वाण।।52।।
नर्क बास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर।
कर शुद्धातम भावना, शीघ्र कहो भवतीर।।51।।

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिब्बाणु लहंति।।53।।
शास्त्र पाठी भी मूर्ख है, जो निज तत्त्व अजान।
यह कारण जग जीव यह, पावे नहीं निर्वाण।।

अर्थ :- जो शास्त्रों को पढ़ लेते हैं, परन्तु आत्मा को नहीं जानते, वे लोग भी जड़ ही हैं तथा निश्चय से इसी कारण ये जीव निर्वाण को नहीं पाते, यह स्पष्ट है।

अंतरंग में ध्यान से, देखत जो असरीर।
शरम जनक भव ना धरे, पिये न जननी क्षीर।।60।।

बिरला जाणहिं तत्तु बुह बिरला णिसुणहिं तत्तु।
बिरला झायहिं तत्तु जिय बिरला धारहिं तत्तु।।
बिरला जानै तत्त्व को, अरु सुनन्त है कोय।
बिरला ध्यावै तत्त्व को, बिरला धारै कोय।।

अर्थ :- बिरले पण्डित ही आत्मतत्त्व को जानते हैं, बिरले ही श्रोता तत्त्व को सुनते हैं, बिरले जीव ही तत्त्व को ध्याते हैं और बिरले ही तत्त्व को धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

जन्म-मरण इकला करे, दुख-सुख भोगे एक।
नर्क गमन भी एकला, शिवसुख पावे एक।।70।।
यदि तू जावे एकला, यह लख तज परभाव।
आत्मा ध्यावो ज्ञानमय, शीघ्र मोक्षसुख पाव।।71।।

जो पाउ वि सो पाउ मुंणि, सब्बु इ को वि वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ।।
पाप रूप को पाप तो जानत जग सहु कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई।।

अर्थ :- पाप को पाप तो सब कोई जानते हैं, परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है, ऐसा कोई विरला पण्डित ज्ञानी होता है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिंभतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।।75।।
जो जिन बह मैं, बह ही मैं, कर अनुभव निर्भ्रान्त।
हे योगी! शिव हेतु ये, अन्य न मंत्र न तंत्र।।

अर्थ :- जो जिनदेव है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ, इसकी भ्रान्ति रहित होकर भावना कर। हे योगिन्! मोक्ष का कारण कोई अन्य मन्त्र-तन्त्र नहीं है।

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो वंधियहि णिभंतु।
सहज-सरुवइ जइ रमइ तो पावहि सिव-संतु।।87।।
बन्ध-मोक्ष के पक्ष से, निश्चय बांधे कर्म।
सहज रमै निजरूप में, तो पावे शिव शर्म।।

अर्थ :- यदि तू बन्ध-मोक्ष की कल्पना करेगा तो तू निःसन्देह बन्धेगा, यदि तू सहज-स्वरूप मैं रमण करेगा तो शान्त स्वरूप मोक्ष को पावेगा।

निज स्वरूप में जो रमें, त्याग सर्व व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि जीव सो, शीघ्र लहे भवपार।।89।।
जो जाने शुद्धात्म को, अशुचि देह से भिन्न।
सो ज्ञाता सब शास्त्र के, शाश्वत सुख में लीन।।95।।
स्व-पर रूप जानै न जो, नहीं तजै परभाव।
सकल शास्त्र जाने तदपि, लहे न शिव-सुखभाव।।96।।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छईं अप्पा जाणि।।104।।
आत्मा सो अर्हंत है, निश्चय सिद्ध जु सोय।
आचारज उबझाय अरु निश्चय साधु सोय।।

अर्थ :- निश्चय से आत्मा ही अरहंत है, वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है, उसी को आचार्य जानो, वही उपाध्याय है और वही आत्मा ही साधु है।

जेते कछु पुद्गल परमाणु शब्दरूप,
भये हैं अतीत काल आगे होनहार हैं।
तिनको अनंतगुण करत अनन्तबार,
ऐसे महाराशि रूप धरैं विस्तार हैं।।

सबही एकत्र होय सिद्ध परमातम के,
मानो गुण-गण उचरन अर्थधार हैं।
तौ भी इक समय के अनंत भाग आनंद को,
कहत न कहैं हम कौन परकार हैं।।

-सिद्धचक्र विधान पूजन

(3) परमात्म प्रकाश

"आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जावे, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। जिन्होंने पाया उन्होंने ध्यान से ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यान का उपाय है, ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ। वही कहा है-

अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा।
अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा।।

वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं, नय प्रमाणरूप हैं, तथा ज्ञान की पंडिताई कुछ और ही है, वह आत्मा निर्विकल्प है, नय-प्रमाण-निक्षेप से रहित है, वह परम तत्त्व तो केवल आनन्दरूप है, और ये लोक अन्य ही मार्ग में लगे हुए हैं, सो वृथा क्लेश कर रहे हैं। इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है।" *-टीका प.प्र.गा. 23*

भावार्थ :- यहाँ जो सिद्ध परमेष्ठी का व्याख्यान किया उसी के समान अपना भी स्वरूप है, यही उपादेय है, जो सिद्धालय है वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोक में विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट में विराजमान है। *-गाथा 25*

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिबसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ।।

अर्थ :- जैसा केवलज्ञानादि प्रगटरूप कार्य समयसार उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मल से रहित, केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कर शक्तिरूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है, इसलिये हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान में और अपने में भेद मत कर। *-गाथा 26*

मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा।
अबद्धो मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः।।
अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्बन्धः कथं भवेत्।
बन्धनं मोचनं नो चेन्मुञ्चेरर्थो निरर्थकः।।

अर्थ :- जो यह जीव पहले बंधा हुआ होवे, तभी 'मुक्त' ऐसा कथन संभवता है और जो पहले बंधा ही नहीं तो फिर 'मुक्त' ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता है। मुक्त तो छूटे हुए का नाम है, सो जब बंधा ही नहीं, तो फिर 'छूटा' किस तरह कहा जा सकता है। जो अबंध है, उसको छूटा कहना ठीक नहीं। जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं, उनका कथन निरर्थक है। जो यह अनादि का मुक्त ही होवे, तो पीछे बंध कैसे संभव हो सकता है। बंध होवे तभी मोचन छुटकारा हो सके, जो बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है।

-पर.प्र.गा.टीका 59

ण बि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया जिणबरू एउँ भणेइ।।68।।

अर्थ :- निश्चय से विचारा जावे, तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध-मोक्ष को करता है, अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से बंध-मोक्ष से रहित है - ऐसा जिनवरदेव कहते हैं।

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइउ एहु सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु।।72।।

अर्थ :- हे योगी! यह शरीर छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, अथवा भिद जावें, या नाश को प्राप्त हो जावे, तो भी तू भय मत कर, मन में खेद मत कर, अपने निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर, अर्थात् वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित अपने आत्मा का चिंतवन कर, जिस परमात्मा के ध्यान से तू भवसागर का पार पायेगा।

दुक्खहँ कारणि जे बिसय ते सुह हेउ रमेइ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवऽउ इत्थु ण काइँ करेइ।।84।।

अर्थ :- दुःख के कारण जो पाँच इन्द्रियों के विषय हैं, उन्हें सुख के कारण जानकर रमण करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव इस संसार में क्या पाप नहीं करता? सभी पाप करता है।

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा बिमलु मुएवि।।95।।

अर्थ :- हे जीव! तू दूसरे तीर्थ को मत जावे, दूसरे गुरु को मत सेवे, अन्य देव को मत ध्यावे, रागादि मल रहित आत्मा को छोड़कर अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहाँ रमण कर आत्मा ही गुरू है उसकी सेवा कर और आत्मा ही देव है, उसकी आराधना कर।

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि।
ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि।।108।।

अर्थ :- जब तक यह जीव अपने को आपकर अपनी प्राप्ति के लिये आपसे अपने मैं तिष्ठता नहीं जान ले, तब तक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी को क्या पा सकता है? कभी नहीं पा सकता। जो आत्मा को जानता है वही परमात्मा को जानता है।

जइ णिबिसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराइ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ।।114।।

अर्थ :- जो आधे निमेष मात्र भी कोई परमात्मा में प्रीति करे तो जैसे अग्नि की कणी काठ के पहाड़ को भस्म कर देती है, उसी तरह सब ही पापों को भस्म कर डाले।

जं मुणि लहइ अणंत सहु णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु बि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु।।117।।

अर्थ :- अपनी आत्मा को ध्याता परम तपोधन जो अनंत सुख को पाता है, उस सुख को इन्द्र भी करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ नहीं पाता।

जसु हरिणच्छी हियवऽउ तसु णवि बंभु बियारि।
एक्कहिं केम समंति बढ बे खंडा पडियारि।।121।।

अर्थ :- जिस पुरूष के चित्त में मृग के समान नेत्रों वाली स्त्री बस रही है उसके अपना शुद्धात्मा नहीं है, अर्थात् उसके शुद्धात्मा का विचार नहीं होता, ऐसा हे प्रभाकर भट्ट! तू अपने मन में विचार कर। बड़े खेद की बात है कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं? कभी नहीं समा सकती।

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति।।123।।

अर्थ :- आत्मदेव देवालय में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है, वह किसी जगह नहीं रहता। वह देव अविनाशी है, कर्माञ्जन से रहित है, केवलज्ञान कर पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभाव में तिष्ठ रहा है, अन्यत्र नहीं।

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु बि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स।।123।।

अर्थ :- मन भगवान आत्माराम से मिल गया और परमेश्वर भी मन से मिल गया तो दोनों ही को समरस होने पर अब मैं किसकी पूजा करूँ। अर्थात् अब किसी को पूजना, सामग्री चढ़ाना नहीं रहा।

हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः।
कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा।।

अर्थ :- जिसके हाथ में चिन्तामणि है, धन में कामधेनु है और जिसके घर में कल्पवृक्ष है, उसे अन्य से प्रार्थना की क्या आवश्यकता है? कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तो कहने मात्र है, वास्तव में तो सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि है-ऐसा जानना। (अ. 2, गा. 15 भा.)

जा णिसि सयलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ।।

अर्थ :- जो सब संसारी जीवों की रात है, उसमें योगी जागते हैं, और जिसमें सब संसारी जीव जाग रहे हैं, उस दशा को योगी रात मानकर योग निद्रा में सोते हैं।।46+1।।

भणइ भणावह णबि थुणइ णिंदह णाणि ण कोई।
सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोई।।48।।

अर्थ :- ज्ञानी (निर्विकल्प ध्यानी) पुरूष न किसी का शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरू होकर किसी को पढ़ाता है, न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता है, मोक्ष का कारण एक समभाव को जानता हुआ केवल आत्मस्वरूप में अचल हो रहा है।

वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति।।56।।

अर्थ :- हे जीव! जो पाप का उदय जीवों को दु:ख देकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धि कर देवें, तो वह पाप का उदय भी अच्छा है- ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

मं पुणु पुण्णइँ भल्लाहँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति।।57।।

अर्थ :- परन्तु वे पुण्य भी अच्छे नहीं हैं, जो जीव को राज्यादि विभूति देकर शीघ्र ही नरकादि के दुखों को उपजाते हैं। ऐसा ज्ञानी पुरूष कहते हैं।

पुण्येण होइ बिहबो बिहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ।।60।।

अर्थ :- पुण्य से धनादि वैभव होता है, वैभव से अभिमान, अभिमान से बुद्धिभ्रम होता है, बुद्धि के भ्रम होने से पाप होता है, इसलिये ऐसा पुण्य हमारे न होवे।

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्बइ मोक्खु ण अस्थि पर चित्त हँ सुद्धि ण जं जि।।70।।

अर्थ :- हे जीव! जहाँ तेरी इच्छा हो वहां जा और जो तुझे अच्छा लगे वह कर, लेकिन जब तक मन की शुद्धि नहीं है, तब तक किसी तरह भी मोक्ष नहीं हो सकता।

बोह-णिमित्तें सत्थु किल लोई पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु बरू सो किं मूदु ण तत्थु।।84।।

अर्थ :- इस लोक में नियम से ज्ञान के निमित्त शास्त्र पढ़े जाते हैं, परन्तु शास्त्र पढ़ने पर भी जिसे उत्तम ज्ञान-सम्यग्ज्ञान-आत्मज्ञान नहीं हुआ, वह क्या मूर्ख नहीं है? मूर्ख है, इसमें सन्देह नहीं।

भावार्थ :- स्व-संवेदन ज्ञान के बिना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख हैं, और जो कोई परमात्मज्ञान के उत्पन्न करने वाले छोटे-थोड़े शास्त्रों को जानकर भी वीतराग स्व-संवेदन ज्ञान की भावना करते हैं-वे मुक्त हो जाते हैं।

वैराग्य मैं लगे हुए जो मोहशत्रु को जीतने वाले हैं, वे थोड़े शास्त्रों को पढ़कर ही सुधर जाते हैं-मुक्त हो जाते हैं और वैराग्य के बिना सब शास्त्रों को पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते, यह निश्चय जानना।

इस बहाने से शास्त्र पढ़ने का अभ्यास नहीं छोड़ना और जो विशेष शास्त्र के पाठी हैं उनको दूषण मत देना। जो शास्त्र के अक्षर बता रहा है और आत्मा में चित्त नहीं लगाया वह ऐसे जानना जैसे किसी ने कण रहित बहुत भूसे का ढेर कर लिया हो, वह किसी काम का नहीं। इत्यादि पीठिका मात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ है, उनकी निन्दा नहीं करना और जो बहुश्रुत है उनको भी अल्प शास्त्रज्ञों की निन्दा नहीं करना चाहिये। क्योंकि पर के दोष ग्रहण करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे ज्ञान और तप का नाश होता है-यह निश्चय से जानना।

चेल्ला-चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूदु णिभंतु।
एयहिं लज्जउ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु।।88।।

अर्थ :- अज्ञानी चेला-चेली पुस्तकादिक से हर्षित होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है और ज्ञानीजन इन सब बाह्य पदार्थों से शरमाता है, क्योंकि वह इन सबको बंध का कारण जानता है।

चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्ला-चेल्लियएहिं।
मोहु जणेविणु मुणिबरहँ उप्पहि पाडिय तेहिं।।89।।

अर्थ :- पीछी-कमंडल-पुस्तक और मुनि श्रावकरूप चेला, अर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली-ये संघ मुनिवरों को मोह उत्पन्न कराके उन्हें उन्मार्ग में पटक देते हैं।

जे जिण-लिंगु धरेबि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुण छद्दि गिलंति।।91।।

अर्थ :- जो मुनि जिनलिंग को धारण करके भी इष्ट-परिग्रहों को ग्रहण करते हैं, हे जीव! वे ही बमन करके पुनः उस बमन को निगलते हैं।

बालहँ कित्तिहि कारणिण जे शिव-संगु चयंति।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति।।92।।

अर्थ :- जो कोई लाभ और कीर्ति के कारण परमात्मा के ध्यान को छोड़ देते हैं, वे ही मुनि लोहे के कीले के लिये अर्थात् इन्द्रिय सुख के निमित्त मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थान को तथा आत्मदेव को भव की आताप से भस्म कर देते हैं।

काउण णग्गरूवं वीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं।
अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं।।

अर्थ :- भयानक देह के मैल से युक्त जले हुए मुर्दे के समान रूपरहित ऐसे वस्त्र रहित नग्नरूप को धारण करके हे साधु! तू पर के घर भिक्षा को

भ्रमता हुआ उस भिक्षा में स्वादयुक्त आहार की इच्छा करता है, तो तुझे शर्म क्यों नहीं आती? वह बड़ा आश्चर्य है।।111+2।।

जे सरसिं संतुट्ठ-मण बिरसि कसाउ बहंति।
ते मुणि भोयण-धार गणि णवि परमत्थु मुणंति।।

अर्थ :- जो योगी स्वादिष्ट आहार से हर्षित होते हैं, और नीरस आहार में क्रोधादि कषाय करते हैं, वे मुनि भोजन के विषय में गृद्धपक्षी के समान हैं, ऐसा तू समझ। वे परमतत्व को नहीं समझते हैं।।111+4।।

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय लोए।
बोद्दह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेब लीलाए।।117।।

अर्थ :- वे ही धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष है और वे ही जीव इस लोक में जीते हैं, जो यौवन अवस्थारूपी बड़े भारी तालाब में पड़े हुए भी विषयरस में नहीं डूबते, लीला मात्र में ही तिर जाते हैं, वे ही प्रशंसा योग्य हैं।

जिय अणु-मित्तु वि दुक्खड़ा सहण ण सक्कहि जोइ।
चउ गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ।।120।।

अर्थ :- हे जीव! तू परमाणु मात्र भी दुख सहने को समर्थ नहीं है, देख! तो फिर चार गतियों के दुख के कारण जो कर्म हैं, उनको क्यों करता है।

देउलु देउ वि सत्थु गुरू तित्थु वि बेउ वि कब्बु।
बच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सब्बु।।130।।

अर्थ :- जिनालय, जिनेन्द्रदेव, जैनशास्त्र, दीक्षा देने वाले गुरु, सम्मेदशिखर आदि तीर्थ, द्वादशांगरूप सिद्धान्त, गद्य-पद्य रूप काव्य इत्यादि जो अच्छी या बुरी वस्तुएँ देखने में आती है, वे सब कालरूपी अग्नि का ईधन हो जायेगी।

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रूक्खे चम्ममयेण।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरज्ञ पडिब्बउ तेण।।133।।

अर्थ :- जिसने मनुष्य शरीररूपी-चर्ममयी वृक्ष को पाकर उससे धर्म नहीं किया, तप नहीं किया, उसका शरीर बुढ़ापारूपी दीमक के कीड़े कर खाया जायेगा, फिर उसको मरणकर नरक में पड़ना होगा।

ए पंचिंदिय - करहडा जिय मोक्कला म चारि।
चरिवि असेसु बि बिषय-बणु पुणु पाडहिं संसारि।।166।।

अर्थ :- ये पांच इन्द्रियरूपी ऊँट हैं, उन्हें अपनी इच्छा से मत चरने दे, क्योंकि सम्पूर्ण विषय-वन को चरके फिर ये संसार में ही पटक देंगे।

घर वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वाउस एहु।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु।।144।।

अर्थ :- हे जीव! तू इसको घर बास मत जान यह पाप का निवास स्थान है, यमराज ने यह अज्ञानी जीवों को बांधने के लिये अनेक फांसों से मंडित बहुत मजबूत बंदीखाना बनाया है, इसमें सन्देह नहीं है।

उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु मिट्ठाहार।
देहहँ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार।।148।।

अर्थ :- इस देह का उबटन करो, तैलादिक से मर्दन करो, श्रृंगार आदि से सजाओ, अच्छे मिष्ठाहार दो, लेकिन ये सब व्यर्थ हैं, जैसे दुर्जनों का उपकार करना वृथा है।

दुक्खइ पावइँ असुचियइँ तिहुयणि सयलइँ लेवि।
एयहिं देहु बिणिम्मियउ बिहिणा बइरू मुणेवि।।150।।

अर्थ :- तीन लोक में जितने दुख हैं, पाप हैं, असुचि वस्तुऐं हैं, उन सबको लेकर इन सबसे विधाता ने बैर मानकर यह शरीर बनाया है।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु।।175।।

अर्थ :- जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ, जो कि अविनाशी देवस्वरूप हूँ, जो मैं हूँ वही उत्कृष्ट परमात्मा है, इस प्रकार निःसंदेह भावना कर।

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होई।
जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोई।।188।।

अर्थ :- हे योगी! अन्य चिन्ता की तो क्या बात? मोक्ष की भी चिन्ता मत कर, क्योंकि मोक्ष चिन्ता करने से नहीं होता, चिन्ता के त्याग से होता है। रागादि चिन्ताजाल से रहित केवलज्ञानादि अनंत गुणों की प्रगटता सहित जो मोक्ष है वह चिन्ता के त्याग से होता है। जिन कर्मों से यह जीव बंधा है, वे कर्म ही मोक्ष करेंगे।

अन्तिम भावना

इस परमात्मप्रकाश की टीका का व्याख्यान जानकर भव्य जीवों को ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानन्द निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप आनन्दानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायों से गम्य नहीं हूँ। निर्विकल्प निजानन्द ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, पूर्ण हूँ। राग-द्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय व्यापार, मन-वचन-काय, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म, ख्याति-लाभ-पूजा, देखे-सुने-अनुभवे भोगों की वांछा रूप निदानबंध, माया, मिथ्या ये तीन शल्यों इत्यादि विभाव परिणामों से रहित सब प्रपंचों से रहित हूँ। तीन लोक, तीन काल में मन-वचन-कायकर, कृत-कारित अनुमोदना कर, शुद्ध निश्चय से मैं आत्माराम ऐसा हूँ तथा सभी आत्मा ऐसे हैं - ऐसी सदैव भावना करना चाहिये।

(4) यतिभावनाष्टकम्

तत्त्वज्ञान के प्राप्त हो जाने पर धूलि से मलिन, वस्त्र से रहित, पद्मासन से स्थित, शान्त वचन रहित तथा आँखों को मींचे हुए; ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए मुझको यदि वनभूमि में भ्रम को प्राप्त हुआ, मृगों का समूह आश्चर्यचकित होकर पत्थर में उकेरी हुई मूर्ति समझने लग जावे तो मुझ जैसा मनुष्य पुण्यशाली होगा।।3।।

जो साधु ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर के ऊपर स्थित शिला के ऊपर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के मूल में तथा शीत ऋतु के प्राप्त होने पर चौरास्ते में स्थान प्राप्त करके ध्यान में स्थित होते हैं; जो आगमोक्त अनशनादि तप का आचरण करते हैं, और जिन्होंने ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा को अतिशय शान्त कर लिया है, उनके मार्ग में प्रवृत्त होते हुए मेरा काल अत्यन्त शान्ति के साथ कब बीतेगा?।।6।।

शिर के ऊपर वज्र के गिरने पर भी अथवा तीनों लोकों के अग्नि से प्रज्वलित हो जाने पर भी, अथवा प्राणों के नाश को प्राप्त होते हुए भी जिनके चित्त में थोड़ा सा भी विकारभाव उत्पन्न नहीं होता है; ऐसे आश्चर्यजनक आत्मतेज को धारण करने वाले किन्हीं बिरले ही श्रेष्ठ मुनियों के वह उत्कृष्ट निश्चल समाधि होती है जिसमें भेदज्ञान विशेष के द्वारा मन का व्यापार रूक जाता है।।7।।

मैं आकिञ्चन हूँ

हे जीव! मैं आकिञ्चन हूँ अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं, ऐसी सम्यक् भावना तू निरन्तर कर कारण कि इसी भावना के सतत् चिंतवन से तू त्रैलोक्य का स्वामी होगा। यह बात मात्र योगीश्वर ही जानते हैं। यह योगीश्वरों को गम्य ऐसा परमात्मतत्त्व का रहस्य मैंने तुझे संक्षेप में कहा।

–आचार्य गुणभद्रस्वामी : आत्मानुशासन, श्लोक–110

(5) तत्त्वज्ञान तरंगिणी

यह शुद्धचिद्रूप ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। तप, सुख, शक्ति और दोषों का अभाव स्वरूप है। गुणवान और परमपुरूष है। उपादेय-गृहण करने योग्य और अहेय है। पर-परिणति से रहित ध्यान करने योग्य है। पूज्य और सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु शुद्धचिद्रूप से भिन्न सम्यग्दर्शनादि कोई पदार्थ नहीं, इसलिये मैं प्रति समय उसी का स्मरण करता हूँ, मनन करता हूँ।।1-9।।

मेरा आत्मा चिदानन्द सवरूप है मुझे परद्रव्यों से चाहे वे देखें हों, जाने हों, परिचय में आये हों, बुरे हों, भले हों, भले प्रकार संस्कृत हों, विकृत हों, नष्ट हों, उत्पन्न हों, स्थूल हों, सूक्ष्म हों, जड़ हों, चेतन हों, इन्द्रियों को प्रिय हों, अथवा अप्रिय हों, कोई प्रयोजन नहीं है।।1-14।।

भगवान सर्वज्ञ की वाणी रूपी समुद्र के मंथन करने से मैंने बड़े भाग्य से शुद्धचिद्रूप रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है और मेरी बुद्धि परपदार्थों को निज न मानने से स्वच्छ हो चुकी है, इसलिये अब मेरे लिये संसार में कोई पदार्थ न जानने लायक रहा और न देखने योग्य, ढूंढने योग्य, कहने योग्य, ध्यान करने योग्य, सुनने योग्य, प्राप्त करने योग्य, आश्रय करने योग्य और ग्रहण करने योग्य ही रहा; क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप अप्राप्त पूर्व-पहिले कभी भी प्राप्त न हुआ था, ऐसा है और अति-प्रिय है।।1-19।।

यह शुद्धचिद्रूप का स्मरण मोक्षरूपी वृक्ष का कारण है। संसाररूपी समुद्र के पार होने के लिये नाव है। दुखरूपी भयंकर वन के लिये दावानल है। कर्मों से भीत मनुष्यों के लिये सुरक्षित सुदृढ़ किला है। विकल्परूपी रज के उड़ाने के लिये पवन का समूह है। पापों को रोकने वाला है। मोहरूप सुभट के जीतने के लिये शस्त्र है। नरक आदि अशुभ पर्यायरूपी रोगों के नाश करने के लिये उत्तम अव्यर्थ औषधि है एवं तप, विद्या और अनेक गुणों का घर है।।2-2।।

क्वयांति कार्याणि शुभाशुभानि।
क्वयांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः।
क्वयांति रागादय एव शुद्ध।
चिद्रूप कोहंस्मरणे न विघ्नः।।

हम नहीं कह सकते कि '**शुद्धचिद्रूपोहं**' मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण करते ही शुभ-अशुभ कर्म, चेतन-अचेतन स्वरूप परिग्रह और राग-द्वेष आदि दुर्भाव कहाँ लापता हो जाते हैं?।।2-8।।

जिस प्रकार पर्वतों में मेरू, वृक्षों में कल्पवृक्ष, धातुओं में स्वर्ण, पीने योग्य पदार्थों में अमृत, रत्नों में चिन्तामणि रत्न, ज्ञानों में केवलज्ञान, चारित्रों में समतारूप चारित्र, आप्तों में तीर्थंकर, गायों में कामधेनु, मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र महान और उत्तम हैं, उसी प्रकार ध्यानों में '**शुद्धचिद्रूप**' का ध्यान ही सर्वोत्तम है।।2-9।।

जो पुरूष शुद्धचिद्रूप की चिन्ता में रत है, सदा शुद्धचिद्रूप का विचार करता रहता है, वह चाहे दुर्बर्ण-काला, कबरा, बूचा, अंधा, बोना, कुबड़ा, नकटा, कुशब्द बोलने वाला, हाथ रहित-टूंटा, गूंगा, लूला, गंजा, दरिद्र, मूर्ख, बहिरा और कोढ़ी आदि कोई भी क्यों न हो विद्वानों की दृष्टि में प्रशंसा के योग्य है। सब लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु अन्य सुन्दर भी मनुष्य यदि '**शुद्धचिद्रूप**' की चिन्ता से विमुख है तो उसे कोई अच्छा नहीं कहता।।2-11।।

शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन।
उत्तमं क्वापि कस्यापि भूतमस्ति भविष्यति।।

'**शुद्धचिद्रूप**' के समान उत्तम और ध्येय-ध्याने योग्य पदार्थ न कहीं हुआ, न है और न होगा, इसलिये '**शुद्धचिद्रूप**' का ही ध्यान करना चाहिये।।2-15।।

द्वादशांगं ततो बाह्यं श्रुतं जिनवरोदितं।
उपादेय तया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः।।

भगवान जिनेन्द्र ने अंगप्रविष्ट (द्वादशांग) और अंगबाह्य-दो प्रकार के शास्त्रों का प्रतिपादन किया है। इन शास्त्रों में यद्यपि अनेक पदार्थों का वर्णन किया है; तथापि वे सब हेय कहे हैं और उपादेय एक '**शुद्धचिद्रूप**' को बतलाया है।।2-17।।

ज्ञान को तराजू की कल्पना कर उसके एक पलड़े में समस्त उत्तमोत्तम गुण, जो भाँति-भाँति के सुख प्रदान करने वाले हैं, अत्यन्त रम्य और भाग्य से प्राप्त हुए हैं, इकट्ठे रखें और दूसरे पलड़े में अतिशय विशुद्ध केवल '**मैं शुद्धचिद्रूप** हूँ' ऐसी स्मृति को रखें तब भी वे गुण '**शुद्धचिद्रूप**' की स्मृति की तनिक भी तुलना नहीं कर सकते।।2-21।।

देवं श्रुतं गुरूं तीर्थं भदंतं च तदाकृतिं।
शुद्धचिद्रूप सद्ध्यान हेतुत्वाद् भजते सुधी।।

देव, शास्त्र, गुरू, तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रतिमा **शुद्धचिद्रूप** के ध्यान में कारण हैं-बिना इनकी पूजा सेवा किये **शुद्धचिद्रूप** की ओर ध्यान जाना सर्वथा दुसाध्य है, इसलिये '**शुद्धचिद्रूप**' की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वान, अवश्यं देव आदि की सेवा उपासना करते हैं।।3-2।।

शुद्धचिद्रूप के ध्यान करते समय इन्द्रिय और मन के अनिष्ट पदार्थ भी यदि उसकी प्राप्ति में कारण स्वरूप पड़ें तो उनका आश्रय कर लेना चाहिये और इन्द्रिय मन को इष्ट होने पर भी यदि वे उसकी प्राप्ति में कारण न पड़े-बाधक पड़े तो उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिये।।3-3।।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप पदार्थों में जो पदार्थ '**शुद्धचिद्रूप**' के स्मरण करने में हितकारी न हो उसे छोड़ देना चाहिये और जो उसकी प्राप्ति में हितकारी हो उसका बड़े प्रयत्न से आश्रय करना चाहिये।।3-4।।

स्वल्पकार्य कृतौ चिन्ता महावज्रायते ध्रुवं।
मुनीनां शुद्धचिद्रूप ध्यानपर्वत भंजने।।

जिस प्रकार वज्र, पर्वत को चूर्ण-चूर्ण कर देता है, उसी प्रकार जो मनुष्य '**शुद्धचिद्रूप**' की चिन्ता करने वाला है, वह यदि अन्य किसी थोड़े से भी कार्य के लिये जरा भी चिन्ता कर बैठता है तो '**शुद्धचिद्रूप**' के ध्यान से सर्वथा विचलित हो जाता है।।3-6।।

इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चिन्ता का अभाव, एकान्त स्थान, आसन्न भव्यपना, भेदविज्ञान और दूसरे पदार्थों में निर्ममता ये '**शुद्धचिद्रूप**' के ध्यान में कारण है- बिना इनके शुद्धचिद्रूप का कदापि ध्यान नहीं हो सकता।।3-12।।

जो मनुष्य ज्ञानी है-संसार की वास्तविक स्थिति का जानकार है वह- मनुष्य, स्त्री, तिर्यञ्च और देवों के स्थिति गति वचन को, नृत्य-गान को, शोक आदि को, क्रीड़ा, क्रोध आदि को, मौन को, भय हँसी, बुढ़ापा, रोना, सोना, व्यापार, आकृति, रोग, स्तुति, नमस्कार, पीड़ा, दीनता, दुख, शंका, भोजन और श्रृंगार आदि को संसार में नाटक के समान मानता है।।3-13।।

जिस मनुष्य के हृदय में, सभा में, सिंहासन पर विराजमान हुए चक्रवर्ती और इन्द्र के ऊपर दया है, शोभा में रति की तुलना करने वाली इन्द्राणी और चक्रवर्ती की पटरानी में घृणा है, और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियों के सुखों का स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है, वह मनुष्य तत्वज्ञानियों में उत्तम तत्त्वज्ञानी कहा जाता है।।3-14।।

संसार में अनेक मनुष्य राजा आदि के गुणगान कर काल व्यतीत करते हैं। कई एक विषय, रति, कला, कीर्ति और धन की चिन्ता में समय बिताते हैं, और बहुत से सन्तान की उत्पत्ति का उपाय, पशु, पक्षी, वृक्ष, गौ, बैल आदि का पालन, अन्य की सेवा, शयन, क्रीड़ा, औषधि आदि का सेवन, देव, मनुष्यों के रंजन और शरीर का पोषण करते-करते अपनी समस्त आयु के काल को समाप्त कर देते हैं, इसलिये जिनका समय स्व-स्वरूप, '**शुद्धचिद्रूप**' की प्राप्ति में व्यतीत हो ऐसे मनुष्य संसार में विरले ही हैं।।3-16।।

जिस प्रकार अंधे के सामने नाचना और बहरे के सामने गीत गाना व्यर्थ है उसी प्रकार बहिरात्मा के सामने '**शुद्धचिद्रूप**' की कथा भी कार्यकारी नहीं है; परन्तु जिस प्रकार भूखे के लिये अन्न और प्यासे के लिये जल हितकारी है, उसी प्रकार अन्तरात्मा के सामने कहा गया '**शुद्धचिद्रूप**' का उपदेश भी परमहित प्रदान करने वाला है।।3-23-24।।

इस परम पावन चिद्रूप के स्मरण करने में न किसी प्रकार का क्लेश उठाना पड़ता है, न धन का व्यय, देशान्तर में गमन और दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है, किसी प्रकार की शक्ति का क्षय, भय, दूसरे को पीड़ा, पाप, रोग, जन्म-मरण और दूसरे की सेवा का दुख भी नहीं भोगना पड़ता, इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलों के धारक भी इस शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने में हे विद्वानों! तुम क्यों उत्साह और आदर नहीं करते? यह समझ में नहीं आता।।4-1।।

संसार में भोगभूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधरलोक और नागलोक की प्राप्ति तो दुर्गम-दुर्लभ है; परन्तु '**शुद्धचिद्रूप**' की प्राप्ति अति सरल है, क्योंकि चिद्रूप के साधन में सुख, ज्ञान, मोचन, निराकुलता और भय का नाश ये साथ-साथ होते चले जाते हैं और भोगभूमि आदि के साधन में बहुत काल के बाद दूसरे जन्म में होते हैं।।4-2-3।।

जैन शास्त्र एक अपार सागर है और उसमें परमात्मा के नामरूपी अनन्त रत्न भरे हुए हैं, उनमें से भले प्रकार परीक्षा कर और सबों में अमूल्य उत्तम मान यह '**शुद्धचिद्रूप**' का नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है।।4-9।।

प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा।।

मोह के उदय से मत्त जीव का मन जिस प्रकार संपत्ति और स्त्रियों में रमण करता है, उसी प्रकार यदि वही मन उनसे अपेक्षा कर शुद्धचिद्रूप की ओर झुके-उसमें प्रेम करे, तो देखते-देखते ही इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाये।।4-17।।

विमुच्य शुद्धचिद्रूप चिंतनं ये प्रमादिनः।
अन्यत् कार्यं च कुर्वंत ते पिवंति सुधां विषं।।

जो आलसी मनुष्य सुख-दुख और उनके कारणों को भले प्रकार जानकर भी प्रमाद के उदय से शुद्धचिद्रूप की चिन्ता छोड़ अन्य कार्य करने लग जाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुखदायी विषपान करते हैं। इसलिये तत्वज्ञों को '**शुद्धचिद्रूप**' का सदा ध्यान करना चाहिये।।4-18।।

मैं अनंतबार अनन्तभवों में मरा; परन्तु मृत्यु के समय '**मैं शुद्धचिद्रूप हूँ**' ऐसा स्मरण कर कभी न मरा।।5-3।।

मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु प्रभृति लोकोत्तर अनन्य लभ्य विभूतियां प्राप्त कर ली; परन्तु अनुपम '**शुद्धचिद्रूप**' नाम की संपत्ति आज तक कहीं न पाइ।।5-4।।

इंद्रादीनां पदं लब्धं पूर्वं विद्याधरेशिनां।
अनंतशोऽहमिंद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलं।।

मैंने पहले अनेकबार इन्द्र, नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये। अनन्तबार विद्याधरों का स्वामी और अहमिंद्र भी हुआ; परन्तु आत्मिकरूप-शुद्धचिद्रूप का लाभ न कर सका।।5-6।।

मया निःशेष शास्त्राणि व्याकृतानि श्रुतानि च।
तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृतं तीव्रमोहिना।।

मैंने संसार में अनंतबार कठिन से कठिन भी अनेक शास्त्रों का व्याख्यान कर डाला और बहुत से शास्त्रों का श्रवण भी किया, परन्तु मोह से मूढ़ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूप का वर्णन है, उसे कभी स्वीकार नहीं किया।।5-8।।

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधाः।
ग्रीष्म नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि।।

बहुत बार मैं शीतकाल में नदी के किनारे, वर्षा काल में वृक्ष के नीचे

और ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटियाँ पर स्थित हुआ; परन्तु अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में मैंने कभी स्थिति नहीं की।।5-15।।

अधीतानि च शास्त्राणि बहुबारमनेकशः।
मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकं।।

मैनें बहुत बार अनेक शास्त्रों को पढ़ा, परन्तु मोह से मत्त हो '**शुद्धचिद्रूप**' का स्वरूप समझाने वाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया।।5-17।।

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः।
लब्ध्ये मन्ये कदाचित्तं विनाऽसौ लभ्यते कथं।।

शुद्धचिद्रूप का स्वरूप प्रतिपादन करने वाला आज तक मुझे कोई गुरु भी न मिला और जब गुरु ही कभी न मिला तब शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो ही कहां सकती थी? अर्थात् बिना शुद्धचिद्रूप के स्वरूप के मर्मज्ञ गुरू के शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति सर्वथा दुःसाध्य है।।5-18।।

व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के विकल्पों से मैं सदा भरा रहा, कभी मैं अपने संकल्प-विकल्पों को दूसरे के सामने प्रगट करता रहा और कभी मेरे मन से ही वे टकराकर नष्ट होते रहे इसलिये आज तक मुझे '**शुद्धचिद्रूप**' के चिंतवन करने का कभी अवकाश भी न मिला।।5-22।।

चिद्रूप की चिन्ता में लीन मुझे अनेक मनुष्य बाबला-पागल, खोटे ग्रहों से अस्त-व्यस्त, पिसाचों से ग्रस्त, रोगों से पीड़ित, भाँति-भाँति के परिषहों से विकल, बुड्ढा, बहुत जल्दी मरने वाला होने के कारण विकृत और ज्ञान शून्य हो घूमने वाला जानते है, सो जानो, परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ, क्योंकि मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय है कि **मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ**।।6-1।।

उन्मत्तं भ्रांतियुतं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं,
निश्चितं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं, बालकावस्थमेतत्।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः,
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगत् भाति भेदज्ञचित्ते।।

जिस समय स्व और पर का भेद-विज्ञान हो जाता है उस समय शुद्धात्मदृष्टि से रहित यह जगत चित्त में ऐसा जान पड़ने लगता है मानों यह उन्मत्त और भ्रान्त है। इसके दोनों नेत्र बन्द हो गये हैं, यह दिग्विमूढ़ हो गया है, गाढ़ निद्रा में सो रहा है, मन रहित असैनी मूर्छा से बेहोश और जल के प्रवाह में बहा चला जा रहा है, बालक के समान अज्ञानी है, मोहरूपी धूर्तों ने व्याकुल बना दिया है, बाबला और अपना सेवक बना लिया है।।6-2।।

शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं बधं ताडनं,
छेदं भेदगदादि हास्यदहनं निंदाऽऽपदापीडनं।
पव्यग्न्यब्ध्यगपंककूपपवनभूक्षेपापमानं भयं,
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरम ब्रह्मस्मृतावन्बहं।।

जिस समय मैं शुद्धचिद्रूप के चिंतवन में लीन होऊं उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरंतर शाप देवें तो दो, मेरी चीज चुरायें तो चुराओ मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करें तो करो, ताड़े छेदै, मेरे रोग उत्पन्न कर हंसी करें, जलावें, निंदा करें, आपत्ति और पीड़ा करें तो करो, सिर पर वज्र डालें तो डालो, अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कुंआ, वन और पृथ्वी पर फैकें तो फेको, अपमान करें तो करो, भय करें तो करो, मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता क्योंकि वे मेरी आत्मा को तनिक भी नुकसान नहीं पहुँचा सकते।।6-4।।

किसी काल और किसी देश में '**शुद्धचिद्रूप**' से बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है ऐसा मुझे पूर्ण निश्चय है, इसलिये मैं इस '**शुद्धचिद्रूप**' के लिये प्रति समय अनन्तबार नमस्कार करता हूँ।।6-8।।

निश्चलोंऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात् क्रमेण द्रव्यमुक्ति भाग।।

जिस समय निश्चल मन से यह स्मरण किया जाता है कि '**मैं शुद्धचिद्रूप हूँ**' भाव मोक्ष उसी समय हो जाता है और द्रव्यमोक्ष क्रम-क्रम से होता चला जाता है।।6-20।।

हे आत्मन्! यह व्यवहार मार्ग चिन्ता, क्लेश, कषाय और शोक से जटिल है। देह आदि द्वारा साध्य होने से पराधीन है, कर्मों के लाने में कारण है। अत्यन्त विकट, भय और आशा से व्याप्त है तथा ब्यामोह कराने वाला है, परन्तु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्ग में यह कोई विपत्ति नहीं है, इसलिये तू व्यवहारनय को त्यागकर शुद्धनिश्चयनयरूप मार्ग का अवलंबन कर, क्योंकि यह इस लोक की क्या बात? परलोक में भी सुख का देने वाला है और समस्त दोषों से रहित निर्दोष है।।7-5।।

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यबर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः।
न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचित्यस्तु लयः सदैव।।

मेरा मन '**शुद्धचिद्रूप**' की प्राप्ति के लिये उत्सुक है, इसलिये न तो मुझे संसार में भक्तों की आवश्यकता है, न शिष्यवर्ग, पुस्तक, देह आदि से ही कुछ प्रयोजन है एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है। केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा '**शुद्धचिद्रूप**' में ही लीन रहे।।7-6।।

देश, राष्ट्र पुर-गाँव, जनसमुदाय, धन, वन, ब्राह्मण आदि वर्णों का पक्षपात, जाति, संबंधी, कुल, परिवार भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय और वाणी ये सब पदार्थ विकार करने वाले हैं। इनको अपना मानकर स्मरण करने से ही चित्त, '**शुद्धचिद्रूप**' की ओर से हठ जाता है-चंचल हो उठता है तथा मैं कर्ता और कारण आदि हूँ इत्यादि कारकों के स्वीकार करने से भी चित्त में चल-विचलता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये स्वाभाविक गुणों के भण्डार '**शुद्धचिद्रूप**' को ही मैं निर्विभागरूप से कर्ता-कारण का कुछ भी भेद न कर स्मरण मनन ध्यान करता हूँ।।8-3।।

मोह के मद में मत्त बहुत से मनुष्य कीर्ति प्राप्त होने से ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इन्द्रियजन्य सुख, सुन्दर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनों की प्राप्ति से अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतों को बल, उत्तम मित्र, विद्वत्ता और मनोहर रूप आदि की प्राप्ति से

संतोष हो जाता है, परन्तु मैं आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से अपना जन्म सफल मानता हूँ।।8-6।।

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरूचिकारकः।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं।।
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरूस्तदुपदेशकः।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा।।

जो पदार्थ चिद्रूप में प्रेम कराने वाला है वह संसार में दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त हो जाये तो चिद्रूप के स्वरूप का उपदेशक गुरू नहीं मिलता, इसलिये उससे गुरू की प्राप्ति दुर्लभ है। गुरू भी प्राप्त हो जाये तो जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार भेदविज्ञान की प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है।।8-8,9।।

मैंने शुद्धचिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जान लिया है, इसलिये मेरे चित्त में देवेन्द्र, नागेन्द्र और नरेन्द्रों के सुख जीर्ण तृण के समान जान पड़ते हैं; परन्तु जो मनुष्य अल्पज्ञानी है अपने और पर के स्वरूप का भले प्रकार ज्ञान नहीं रखते वे निंदित स्त्रियां, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्र से उत्पन्न हुए सुख को जो कि दुख स्वरूप है, सुख मानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है।।9-10।।

जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूप का स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते हैं वे चिन्तामणि रत्न को छोड़ पाषाण ग्रहण करना चाहते हैं-ऐसा समझना चाहिये।।9-14।।

मूढ़ पुरूष निरन्तर अहंकार के वश रहते हैं-अपने से बढ़कर किसी को नहीं समझते, इसलिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूप की ओर वे भी नहीं देख पाते।।10-1।।

यद्यपि संसार में शान्तचित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान, बलवान, धनवान, चारित्रवान, उत्तम वक्ता, शीलवान, तप पूजा, स्तुति और नमस्कार

करने वाले, मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इन्द्रियों के जीतनेवाले, उपसर्गों के सहने में धीर-वीर, परिग्रहों से रहित और नाना प्रकार की कलाओं के जानकार असंख्यात मनुष्य है; तथापि '**शुद्धचिद्रूप**' के स्वरूप में अनुरक्त कोई एक विरला ही है।।11-1।।

परन्तु जो जीव आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए हैं, उनमें से भी विरले ही शुद्धचिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के पालक होते हैं तथा इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तो इस समय दो तीन ही हैं अथवा हैं ही नहीं।।11-15।।

इस क्षेत्र में प्रथम तो इस समय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी ही विरले हैं यदि वे भी मिल जायें तो अणुव्रतधारी मिलने कठिन हैं। अणुव्रतधारी भी हों तो धीर-वीर महाव्रतधारी दुर्लभ हैं। यदि वे भी हों तो तत्व-अतत्वों के जानकार बहुत कम हैं। यदि वे भी प्राप्त हो जायें तो शुद्धचिद्रूप में रत मनुष्य अत्यंत दुर्लभ है।।11-17।।

संसारी जीवों को राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, बैरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोष और अकीर्ति से सदा भय बना रहता है। धन, कुटुम्बी, मनुष्य, गाय और महल की चिन्तायें लगी रहती हैं एवं उनके नाश से शोक होता रहता है, इसलिये उन्हें शास्त्ररूपी अगाध समुद्र से उत्पन्न शुद्धचिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होना नितान्त दुर्लभ है।।13-7।।

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णबः।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनं।।

आचरांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्धचिद्रूप का अंश है, इसलिये यदि शुद्धचिद्रूप प्राप्त हो गया है तो मुझे द्वादशांग से क्या प्रयोजन! वह तो प्राप्त हो ही गया।।13-9।।

विशुद्धि सेवनासक्ता बसंति गिरिगह्वरे।
विमुच्यानुपमं राज्यं स्वसुखानि धनानि चं।।

जो मनुष्य विशुद्धता के भक्त हैं, अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धि के लिये पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं, तथा अनुपम राज्य इन्द्रिय सुख और सम्पत्ति का सर्वथा त्याग कर देते हैं-राज्य आदि की ओर जरा भी चित्त को भटकने नहीं देते।।13-17।।

जो प्रतिदिन '**शुद्धचिद्रूप**' का स्मरण ध्यान करता है उसे दूसरे मनुष्यों से अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहीं होता और निन्दा सुनकर किसी प्रकार का विषाद नहीं होता-निन्दा-स्तुति दोनों दशा में वह मध्यस्थ रहता है।।14-16।।

हंस! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा।
यथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा।।

हे आत्मन्! जिस प्रकार प्रतिदिन तू परद्रव्यों का स्मरण करता है, स्त्री-पुत्र आदि को अपना मान उन्हीं की चिन्ता में मग्न रहता है, उसी प्रकार यदि तू '**शुद्धचिद्रूप**' का भी स्मरण करे-उसी के ध्यान और चिन्तवन में अपना समय व्यतीत करे तो क्या तेरे लिये मोक्ष समीप न रह जाये? अर्थात् तू बहुत शीघ्र ही मोक्ष सुख का अनुभव करने लग जाये।।15-6।।

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत्।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलंबिनः।।

मैं अब तत्वावलंबी हो चुका हूँ-अपना और पराये का मुझे पूर्ण ज्ञान हो चुका है, इसलिये शास्त्रों से उत्पन्न हुआ परद्रव्यों का ज्ञान भी जब मेरे हेय-त्यागने योग्य है तब उन परद्रव्यों के ग्रहण का तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये, उनकी ओर झांककर भी मुझे नहीं देखना चाहिये।।15-13।।

जो मनुष्य गरिष्ठ या भरपेट भोजन करेगा और जनसमुदाय में रहेगा, वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नहीं कर सकता, इसलिये उत्तम पुरूषों को

स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिये आलस्य न दबा बैठे, इस कारण बहुत कम आहार और एकान्त स्थान का आश्रय करना चाहिये।। भावार्थ : 16-13।।

हे आत्मन्! यह चिदात्मा सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णु के अखण्ड गर्व को देखते-देखते चूर करने वाला है और विजयशील है।।17-12।।

यदि शुद्धचिद्रूप का चिन्तवन किया जायेगा तो प्रतिक्षण कर्मों से मुक्ति होती चली जायेगी और यदि परपदार्थों का चिन्तवन करेगा तो प्रति समय कर्मबंध होता रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।।18-9।।

जिनदर्शन

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि।
स्याच्चेटोऽपि, दरिद्रोऽपि, जिनधर्मानुवासितः।।
जन्म-जन्मकृतं पापं, जन्म-कोट्यामुपार्जितम्।
जन्म-मृत्यु-जरा रोगं, हन्यते जिन-दर्शनात्।।

मेरी प्रतिज्ञायें ——— **मेरे कर्त्तव्य**

1. मुझे इस पर्याय में अपना कल्याण करना ही है।
2. मेरा कल्याण जिनवाणी के अभ्यास से ही हो सकता है, अतः मैं निरन्तर जिनवाणी का अभ्यास करूँगा।
3. मैं जिनवाणी का अभ्यास आत्मकल्याण की भावना से करूँगा, अन्य किसी लौकिक प्रयोजन से नहीं।

❖ सौ काम छोड़कर देवदर्शन करना चाहिए। हजार काम छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए। लाख काम छोड़कर आत्मचिन्तन करना चाहिए। करोड़ काम छोड़कर सम्यग्दर्शन पाना चाहिए

(6) नियमसार

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरच न समस्ति।
तर्हि भबाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि।।

भव के भय का भेदन करने वाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहने वाले मगर के मुख में है।।12।।

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः।
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिद्शुद्धपर्य्यायकैः।।
सनाथमपि जीवतत्वमनाथं समस्तैरिदं।
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयैसदा।।26।।

जीवतत्व क्वचित् सद्गुणों सहित बिलसता है-दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्धगुणों सहित विलसता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित बिलसता है और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित बिलसता है। इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे रहित है, ऐसे इस जीवतत्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।

कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय

यहाँ सहज शुद्ध निश्चय, अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान-सहज दर्शन-सहजचारित्र-सहज परम वीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तः तत्वस्वरूप जो स्वभाव-अनन्तचतुष्टय का स्वरूप उसके साथ की जो पूजित पंचमभावपरिणति (-उसके साथ तन्मयरूप से रहने वाली जो पूज्य ऐसी पारिणामिक भाव की परिणति) वही कारणशुद्ध पर्याय है, ऐसा अर्थ है।

सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाव वाले शुद्ध-सद्भूत व्यवहार से, केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलशक्ति युक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ की (अनन्त चतुष्टय के साथ तन्मयरूप से रहने वाली) जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति वही कार्यशुद्धपर्याय है।।गाथा-15।।

असति सति विभावे तस्य चिन्तास्ति नो नः।
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्।।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्म प्रमुक्तं।
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात्।।34।।

(हमारे आत्मस्वभाव में) विभाव असत् होने से उसकी हमें चिन्ता नहीं है; हम तो हृदयकमल में स्थिति सर्व कर्म से विमुक्त, शुद्ध आत्मा का एक का सतत् अनुभवन करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है।

भबिनि भबगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यं।
निजपरमगुणाः स्युः सिद्धसिद्धाः समस्ताः।।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि।
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम्।।35।।

संसारी में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्ध जीव में सदा समस्त सिद्धि सिद्ध निज परमगुण होते हैं–इस प्रकार व्यवहारनय है। निश्चय से तो सिद्ध भी नहीं है और संसार भी नहीं है। यह बुध पुरूषों का निर्णय है।

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधि समुब्भव गुणपज्जाएहिं बदिरित्तो।।
है हेय सब बहितत्त्व ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है।
अरु कर्म से उत्पन्न गुणपर्याय से वह बाह्य है।।38।।

टीका - यह, हेय उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है। जीवादि साततत्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है। सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है, परद्रव्य से पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिनयोगीश्वर है, स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है- ऐसे आत्मा को "आत्मा" वास्तव में उपादेय है। औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर होने से जो (कारण

परमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित विभाव गुणपर्यायों से रहित है, तथा अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाव वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है-ऐसा कारण परमात्मा वह वास्तव में "आत्मा" है। अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः।
सकलबिलयदूरः प्रास्तदुर्ब्बारमारः।।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः।
सुखजलनिधिपूरः क्लेशबाराशिपारः।।54।।

सर्वतत्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्बार काम को नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्ष को छेदने वाला कुठार है, जो शुद्धज्ञान का अवतार है, जो सुखसागर की बाढ़ है और जो क्लेशोदधि का किनारा है, वह समयसार जयवन्त वर्तता है।

जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वत पद है, जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ, नभमण्डल समान अकृत है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है, जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है-ऐसे आत्मा में तू रूचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है?।।कलश 55।।

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं।
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्वस्वरूपं।
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीषः।।

समस्त सुकृत (शुभ कर्म) भोगियों के भोग का मूल है; परमतत्व के अभ्यास में निष्णात चित्त वाले मुनीश्वर भव से विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभ कर्म को छोड़ो और सारतत्वस्वरूप ऐसे उभय समयसार को भजो इसमें क्या दोष है ?।।कलश 59।।

निज आत्मा में लीन बुद्धि वाले तथा भव से और भोग से पराङ्मुख हुए हे यति! तू भव हेतु का विनाश करने वाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज; अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है ?।।कलश 65।।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।
हैं सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।
गुण आठ से जो हैं अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं।।47।।

जैसे सिद्धात्मा हैं वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं, जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भांति) जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

प्रागेव शुद्धता ऐषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित् तेषां भिदां कामपि बेद्म्यहम्।।71।।

जिन सुबुद्धिओं को तथा कुबुद्धिओं को पहले से ही शुद्धता है, उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूं? (वास्तव में उनमें कुछ भी भेद नहीं है।)।

असरीरा अबिणासा अणिंदिया णिम्मला बिसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।48।।
बिनदेह अबिनाशी, अतीन्द्रिय, शुद्धनिर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे, जीव है भवलीन त्यों।।

जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध-भगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार संसार में (सर्व) जीव जानना।।48।।

शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना वह मिथ्यादृष्टि को सदैव होती है, सम्यग्दृष्टि को तो सदा (ऐसी मान्यता) होती है कि कारणतत्व और कार्यतत्व दोनों शुद्ध हैं। इस प्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचार वाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं।।क.72।।

एदे सब्बे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सब्बे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।49।।
व्यवहारनय से हैं कहे सब जीव के ही भाव ये।
हैं शुद्धनय से जीव सब भवलीन सिद्ध स्वभाव से।।

यह सब भाव वास्तव में व्यवहारनय का आश्रय करके (संसारी जीवों में विद्यमान) कहे गये हैं; शुद्धनय से संसार में रहने वाले सब जीव सिद्धस्वभावी हैं।

शुद्धनिश्चय नयेन विमुक्तौ,
संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे,
शुद्धतत्वरसिकः प्रवदन्ति।।73।।

"शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है", ऐसा ही वास्तव में, तत्व विचारने पर शुद्धतत्व के रसिक पुरूष कहते हैं।

भवति तनुबिभूतिः कामिनीनां विभूति,
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्।
सहज परम तत्वं स्वस्वरूपं विहाय,
ब्रजसि बिपुलमोहं हेतुना केन चित्रम्।।79।।

कामिनियों की जो शरीर विभूति का, हे कामी पुरूष! यदि तू मन में स्मरण करता है, तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्व को-निजस्वरूप को छोड़कर तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है।

नारक नहीं, तिर्यंच-मानव-देव-पर्यय मैं नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं।।77।।

मैं मार्गणा के स्थान नहीं, गुणस्थान जीवस्थान नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता भी नहीं।।78।।
बालक नहीं मैं, वृद्ध नहीं, नहिं युवक तिन कारण नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता भी नहीं।।79।।
मैं राग नहिं, मैं द्वेष नहीं, नहिं मोह तिन कारण नहीं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता भी नहीं।।80।।
मैं क्रोध नहिं, मैं मान नहिं, माया नहीं, मैं लोभ नहिं।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमोदक मैं नहीं।।81।।

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति,
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम्।।119।।

प्रगटरूप से सदाशिवमय ऐसे परमात्मतत्त्व में ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता। "वह है" ऐसा (मात्र) व्यवहार मार्ग में सतत् कहा है। हे जिनेन्द्र! ऐसा वह तत्त्व, अहो! महा इन्द्रजाल है।

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणंयत्।
तदपि भवभवेषु श्रूयते बाह्यते वा,
न च न च वत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम्।।121।।

जो मोक्ष का कुछ कथनमात्र कारण है उसे भी (अर्थात् व्यवहार-रत्नत्रय को भी) भवसागर में डूबे हुए जीव ने पहले भव-भव में सुना है और आचरा है; परन्तु अरे रे ! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है (ऐसे परमात्म-तत्त्व को) जीव ने सुना-आचरा नहीं है, नहीं है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं,
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्र रम्यम्।

बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे,
निर्मज्जिन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे।।123।।

आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है, ध्यान-ध्येयादिक सुतप (विकल्परूप शुभ तप) कल्पनामात्र रम्य है;-ऐसा जानकर धीमान सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानि को।।96।।
निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहीं।
देखे ब जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही।।97।।
मम ज्ञान मैं है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा।।100।।
मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे।।101।।
समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसी के प्रति रहा।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा।।104।।

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च,
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुखविधौ सहायः,
स्वाजीवनाय मिलितं बिटपेटकं ते।।

स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिये तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है, अन्य कोई (स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) सुख-दुख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता, अपनी आजीविका के लिये यह ठगों की टोली तुझे मिली है।।भा.101।।

एक्को मे सासदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सब्बे संजोग लक्खणा।।
दृग्ज्ञान-लक्षित और शाश्वत मात्र-आत्मा मम अरे।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे हैं परे।।

ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सब संयोग लक्षण वाले भाव मुझसे बाह्य हैं।।102।।

जो शाश्वत महा आनन्दानन्द जगत में प्रसिद्ध है, वह निर्मल गुण वाले सिद्धात्मा में अतिशयरूप से तथा नियतरूप से रहता है। (तो फिर) अरे रे! यह विद्वान भी काम के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल होते हुए क्लेशपीड़ित होकर उसकी (काम की) इच्छा क्यों करते हैं? वे जड़बुद्धि हैं।कलश 146।।

अनादिमम संसाररोगस्या गदमुत्तमम्।
शुभाशुभ विनिर्मुक्तशुद्धचैतन्य भावना।।

शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसार रोग की उत्तम औषधि है।कलश 167।।

त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए (महा) तिमिरपुंज जैसा मुनियों का यह (कोई) नवीन तीव्र मोहनीय है कि (पहले) वे तीव्र वैराग्यभाव से घांस के घर को भी छोड़कर (फिर) "हमारा वह अनुपम घर!" ऐसा स्मरण करते हैं।कलश 240।।

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्वबशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेवः।।
अतएव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजबल्लभवत्।।

जो जीव अन्यवश है वह भले मुनिवेषधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दुख का भोगने वाला है; जो जीव स्ववश है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित न्यून है।।243।।

ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनिवर्ग में स्ववश मुनि सदा शोभा देता है; और अन्यवश मुनि नौकर के समूहों में राजबल्लभ नौकर समान शोभा देता है (अर्थात् जिस प्रकार योग्यता रहित, खुशामदी नौकर शोभा नहीं देता उसी प्रकार अन्वश मुनि शोभा नहीं देता) ।।कलश 244।।

जो जोड़ता चित्त द्व्य-गुण-पर्याय-चिन्तन में अरे!
रे मोह-विरहित श्रमण कहते अन्य के वश ही उसे।।145।।

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मोहा जड़ा वयम्।।

सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं।।कलश 253।।

(शुद्ध आत्मतत्त्व में) बहिरात्मा और अन्तरात्मा-ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है; संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प सुबुद्धियों को नहीं होता।।क.261।।

णाणा जीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा बयणबिवादं सगपर समएहिं बज्जिज्जो।।156।।
हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।
अतएव ही निज-पर समय के साथ वर्जित वाद भी।।

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार का कर्म है, नाना प्रकार की लब्धि है; इसलिये स्वसमयों तथा परसमयों के साथ वचन-विवाद वर्जने योग्य है।।156।।

भावार्थ- जगत में जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकार के हैं; इसलिये सर्व जीव समान विचारों के हों ऐसा होना असम्भव है। इसलिये पर जीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है। स्वात्माबलम्बनरूप निज हित में प्रमाद न हो इस प्रकार रहना ही कर्त्तव्य है।

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।157।।
निधि पा...मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता।
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी ज्ञान निधि को भोगता।।

जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को पाकर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी पर जनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगता है।।157।।

ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुन्दरं मग्गं।
तेसि वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।181।।
जो कोई सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न लीजिये जिनमार्ग में।।

परन्तु ईर्षाभाव से कोई लोग सुन्दर मार्ग को निन्दते हैं उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना।।186।।

धन्य है जिनवाणी माता...

हे जिनवाणी! जो प्राणी तेरा विधिपूर्वक स्मरण करता है, अध्ययन करता है, उसके लिये ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है, ऐसे कोई गुण नहीं है, ऐसा कोई पद नहीं है, जिसे तू वर्ण भेद के बिना न देती हो। यह गुरू का उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तू अपना स्मरण करने वालों के लिये समान रूप से अनेक प्रकार की लक्ष्मी, अनेक गुणों और उत्तम पद को प्रदान करती है।

–आचार्य पद्मनन्दि : पद्मनन्दि पंचविंशति श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक 26

(7) इष्टोपदेश

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्धे किं स सीदति?।।4।।
आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।
दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर।।

आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों के मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्मपरिणाम के लिये स्वर्ग कितना दूर है? कुछ नहीं। वह तो निकट ही समझो।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संबसन्ति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।।9।।
दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।
प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त।।

देखो, भिन्न-भिन्न दिशाओं व देशों से उड़-उड़कर आते हुए पक्षीगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं और सवेरा होने पर अपने-अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेबातिबाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः।।
जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।
पदिका जिमि घटियन्त्र में, बार-बार भरमाय।।

जब तक संसाररूपी पैर से चलाये जाने वाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर बीतती है तब तक दूसरी बहुत सी विपत्तियां सामने आकर उपस्थित हो जाती हैं।।12।।

विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्ण बनान्तर तरुस्थवत्।।

परकी विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं।
जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरुपर ठहराहिं।।

जिसमें अनेकों हिरण दावानल की ज्वाला से जल रहे हैं ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आने वाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता।।14।।

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनांमिष्टं, जीवितात्सुतरांधनम्।।
आयुक्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनितैं अधिकान।।

काल का व्यतीत होना, आयु के क्षय का कारण है और कालान्तर के माफिक ब्याज के बढ़ने का कारण है, ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है।।15।।

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति।।
पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय।।

जो निर्धन, पुण्य प्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन कमाता है या जोड़ता है, वह "स्नान कर लूंगा" यह सोचकर अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।।16।।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे ब्याधिः कुतो ब्यथा।
नाहं वालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले।।
मरण रोग मोमैं नहीं, तातैं सदा निशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूं, ये सब पुद्गल अंक।।

मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका? मुझे ब्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे?

न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जबान हूँ, ये सब बातें पुद्गल में ही पाई जाती हैं।।29।।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा।।
सब पुद्गल को मोह से, भोग-भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।

मोह से मैंने सभी पुद्गलों को बार-बार भोगा और छोड़ा। भोग-भोगकर छोड़ दिया, अब जूठन के लिये उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।।30।।

स्वस्मिन सदभिलाषित्वादभीष्ट ज्ञायकत्वकः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।
आपहि निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहि निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय।।

जब आत्मा स्वयं ही अपने कल्याण की अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलाने वाला भी है, तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन कराने वाला है, इसलिये अपना गुरु (आत्मा) आप ही है।।34।।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।
मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्तमात्र पर जान, जिमि गति धर्म तै होय।।

अज्ञानी को ज्ञानीनहीं, बनाया जा सकता और ज्ञानी को अज्ञानी नहीं किया जा सकता, अन्यवस्तु तो गति में धर्मास्तिकाय की तरह निमित्तमात्र है।।35।।

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।
जस जस आतमतत्त्व मैं, अनुभवि आता जाय।
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।।
जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।
तस तस आतम तत्त्व मैं, अनुभव बढ़ता जाय।।

ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्व का अनुभवन होता जाता है, वैसे वैसे उस योगी को आसानी से प्राप्त होने वाले विषय भी अच्छे नहीं लगते।

ज्यों ज्यों सहज में प्राप्त होने वाले इन्द्रियों के विषय-भोग रूचिकर प्रतीत नहीं होते, त्यों त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती जाती है।।37-38।।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।
देखत भी देखे नहीं, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीति आतममयी, चालत चालत नाहिं।।

जिसने आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त की है, ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता।।41।।

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योग परायणः।।
क्या कैसा किसका किसमे, कहां यह आतमराम।
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम।।

ध्यान में लगा हुआ योगी, यह क्या है? किसका है? क्यों है? कहां है? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता।।42।।

योो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।
जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय।
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय।।

जो जहां निवास करने लग जाता है, वह वहां रमने लगता है, और जो जहां रमने लगता है वह फिर वहां से हटता नहीं है।।43।।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।
जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
अन्य कछु व्याख्यान जो, याही का विस्तार।।

'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता, बस सब इसी का विस्तार है।।50।।

वैराग्य जननी - बारह भावनाएँ

भगवान तीर्थंकरदेव द्वारा जिनका चिन्तवन किया गया, ऐसी अध्रुव आदि बारह भावनाएँ वैराग्य की जननी है, समस्त जीवों का हित करने वाली हैं, परमार्थ मार्ग को बतलाने वाली हैं, तत्त्व का निर्णय कराने वाली हैं, सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाली हैं, अशुभ ध्यान का नाश करने वाली तथा आत्मकल्याण के अर्थी जीव को सदैव चिन्तवन करने योग्य हैं।

-श्री भगवती आराधना

(8) समाधितन्त्र

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्।।18।।

मेरे द्वारा जो शरीरादि रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे अचेतन पदार्थ किसी को सर्वथा नहीं जानते और जो जानने वाला चैतन्यस्वरूप आत्मा वह (इन्द्रियों द्वारा) दिखाई नहीं देता, तो मैं किसके साथ बोलूं-वार्तालाप करूं।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः।।19।।

मैं अन्य के द्वारा कुछ सीखने योग्य हूँ तथा अन्य को-शिष्यादि को कुछ सिखाता हूँ-मेरी वह चेष्टा उन्मत्त-पागल चेष्टा है, क्योंकि वास्तव में मैं निर्विकल्प-वचन विकल्पों के अग्राह्य हूं।

यदग्राह्यं न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहं।।20।।

जो शुद्ध आत्मस्वरूप अग्राह्य को-क्रोधादि स्वरूप को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किये हुए को अपने अनंत ज्ञानादि गुणों को छोड़ता नहीं है, तथा सम्पूर्ण पदार्थों को सर्व प्रकार से द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह अपने अनुभव में आने योग्य चैतन्यद्रव्य मैं हूँ।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।।26।।

मुझे आत्मा को नहीं देखता हुआ यह अज्ञानी लोक मेरा शत्रु नहीं है और मित्र नहीं है, तथा मुझे-मेरे आत्मस्वरूप को-यथार्थरूप से देखता हुआ यह लोक-ज्ञानी जीव, वह भी मेरा शत्रु-मित्र नहीं है।

यः परात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः।।31।।

जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है; अतः मैं ही मेरे द्वारा उपासित होने योग्य हूँ, अन्य नहीं; ऐसी वस्तुस्थिति है।

आत्मविभ्रजं दुखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः।।41।।

आत्मभ्रान्ति से उत्पन्न दुख आत्मज्ञान से शान्त हो जाता है। जो भेदज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते, वे उत्कृष्ट तप करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्वरुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।।46।।

ये देहादि दृश्य पदार्थ चेतना रहित जड़ हैं और जो चैतन्यरूप आत्मा है वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता, अतः मैं किस पर रोष करूं? किस पर तोष करूं? अतः मैं मध्यस्थ होता है–इस प्रकार अन्तरात्मा विचार करता है।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः।।50।।

ज्ञानी पुरूष आत्मज्ञान से भिन्न किसी भी कार्य को अपनी बुद्धि में अधिक समय तक धारण नहीं करता, यदि प्रयोजनवश वचन-काय से कुछ करता भी है तो वह अतत्पर–अनासक्त भाव से करता है।

तद्ब्रुयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्।।53।।

उसकी अर्थात् आत्मस्वरूप की वार्ता करना, उसी के संबंध में पूछना; उसकी ही इच्छा करना, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाना, उसकी भावना में ही तत्पर सावधान रहना, जिससे अज्ञानमय बहिरात्मस्वरूप का त्याग होकर ज्ञानस्वरूप–परमात्मस्वरूप की प्राप्ति हो।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः।।64।।
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः।।65।।

जिस प्रकार बुद्धिमान पहने हुए वस्त्र के जीर्ण होने पर अपने शरीर को जीर्ण नहीं मानते, उसी प्रकार अन्तरात्मा इस शरीर के जीर्ण होने पर भी इस आत्मा को जीर्ण नहीं मानते।

जिस प्रकार बुद्धिमान, वस्त्र के नष्ट होने पर अपने शरीर को नष्ट हुआ नहीं मानते, उसी प्रकार अन्तरात्मा अपने देह के नष्ट होने पर भी आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता है।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः।।73।।

जिनको आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, ऐसे लोगों को ग्राम अथवा अरण्य ऐसे दो प्रकार के निवास स्थान हैं; किन्तु जिनको आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ है उन ज्ञानी पुरूषों को व्याकुलता रहित शुद्धात्मा ही निवासस्थान है।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना।।74।।

इस देह में आत्मपने की भावना वह अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तर प्राप्ति का बीज अर्थात् कारण है, और आत्मा में ही आत्मा की भावना, वह शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का बीज है।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्।।77।।

आत्मा में ही आत्म बुद्धिवाला अन्तरात्मा शरीर के विनाश को आत्मा

से भिन्न मानता है और मरण के अवसर को एक वस्त्र छोड़कर अन्य वस्त्र के ग्रहण के समान समझकर अपने को निर्भय मानता है।

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्।।80।।

जिसको आत्मदर्शन हुआ है ऐसे अन्तरात्मा को प्रथम अवस्था में जगत उन्मत्तवत्-पागल जैसा भाषित होता है, तत्पश्चात् आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व बुद्धि वाले अन्तरात्मा को यह जगत काष्ठ-पाषाणवत् (निश्चेष्ट) भाषित होता है।

बिदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते।।94।।

देहात्म बुद्धि-बहिरात्मा सर्व शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी तथा जाग्रत होने पर भी कर्म-बंधन से मुक्त नहीं होता, किन्तु भेदज्ञानी-अन्तरात्मा निद्रावस्था में या उन्मत्त अवस्था में होने पर भी कर्म-बंधन से मुक्त होता है- विशेष कर्मों की निर्जरा करता है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्वैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।98।।

आत्मा अपने आत्मा की ही उपासना करके परमात्मा हो जाता है; जिस प्रकार बांस का वृक्ष अपने को अपने से ही घर्षण करके अग्निरूप हो जाता है।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।102।।

जिस ज्ञान की दुःखरहित भावना की जाती है, वह तो उपसर्गादि दुख आ पड़ने पर नष्ट हो जाता है, अतः मुनि-अन्तरात्मा योगी अपनी शक्ति अनुसार काय-क्लेशादिरूप दुःखों से आत्मा की देहादिक से भिन्न भावना भावें।

(9) उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

विरयाणं अविरइए, जीवे दट्‌ठूण होई मणतावो।
हा हा कह भव कूवे, बूडंतापिच्छ णच्चंति।।9।।

संयमी जीवों के मन में असंयमी जीवों को देखकर बड़ा संताप होता है कि हाय! हाय!! देखो तो, संसाररूपी कुएं में डूबते हुए भी ये जीव कैसे नाच रहे हैं?।

कुग्गह गह गहियाणं, मुद्धो जो देइ धम्म उवएसो।
तो चम्मासी कुक्कर, वयणम्मि खवेई कप्पूरं।।13।।

खोटे आग्रह रूपी ग्राह से (मगर, पिशाच से) ग्रसित जीवों को जो मूर्ख उपदेश देता है वह मांस खाने वाले कुत्ते के मुख में कपूर रखने जैसी चेष्टा करता है। जिनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है उन्हें जिनवाणी नहीं रूचती।

बहुगुण बिज्जाणिलयो, उस्सूत्तभासी तहा बिमुत्तब्बो।
जह बरमणिजुत्तो विहुवि, विग्घयरो बिसयरो लोये।।18।।

जिनवाणी से विरूद्ध उपदेश देने वाला पुरूष भले ही क्षमादिक बहुत से गुणों और व्याकरणादिक अनेक विद्याओं का स्थान हो, तो भी वह उसी प्रकार त्याग देने योग्य है जिस प्रकार लोक में श्रेष्ठ मणि सहित विषधर सर्व भी विघ्नकारी होने से त्याज्य ही होता है।

जिण गुण रयण महाणिहि, लद्धूणवि किं ण जाइमिच्छत्तं।
अह लद्धेवि णिहाणे, कि बिणाण पुणो वि दारिद्दं।।125।।

जिनेन्द्र भगवान के गुणरूपी रत्नों की महानिधि प्राप्त करके भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता है? यह महान आश्चर्य है! अथवा-निधान पाकर के भी कृपण पुरूष तो दरिद्री ही रहता है, इसमें क्या आश्चर्य है?।

गुरुणो भट्टा जाया, सद्दे थुणि ऊण लिंति दाणइं।
दुण्णिवि अमुणि असारा, दूसम समयम्मि बुड्डंति।।31।।

इस दुखद पंचम काल में गुरू तो भाट जैसे हो गये हैं जो शब्दों द्वारा दातार की स्तुति करके दान लेते हैं। ऐसे दाता और दान लेने वाले दोनों ही जिनमत के रहस्य से अनभिज्ञ हैं, संसार समुद्र में डूबते हैं।

शुद्धा जिण आणइया केसिं पावाण हुंति सिरसूलं।
जेसिं तं सिरसूलं केसिं मूढ़ा ण ते गुरूणो।।34।।

जिनराज की शुद्ध आज्ञा में तत्पर रहने वाले पुरूष कितने ही पापी जीवों को सिरदर्द के समान हैं क्योंकि यथार्थ जिनधर्मी के पास मिथ्यादृष्टियों के मत चल नहीं पाते, इसीलिये वे उन्हें अनिष्ट लगते हैं। उन मूर्ख जीवों को वे ज्ञानी 'गुरु' नहीं, सिरदर्द के समान लगते हैं।

भावार्थ :- जो जीव मिथ्यादृष्टियों को गुरू मानते हैं वे यथार्थ श्रद्धावान को कुगुरू मानते हैं तथा उन्हें यथार्थ मार्ग का लोप करने वाला अनिष्ट समझते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टियों का संयोग जीवों को कभी न हो।

हा हा गुरूय अकज्जं, सायी णहु अत्थि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु, सावया कहय इदि अकज्जं।।35।।

हाय! हाय! महा अनर्थ है कि आज कोई राजा प्रगट नहीं है, हम किसके पास जाकर पुकार करें! कि जिनवचन क्या है? सुगुरु कैसा होता है? श्रावक कैसे होते है? वह बड़ा अकार्य-अन्याय है।

सप्पे दिट्ठे णासई, लोओ णहु किंपि कोई अक्खेई।
जो चयइ कुगुरू सप्पं, हा मूढा भणइ तं दुट्ठं।।36।।

अरे रे! लोग सर्प को देखकर दूर भागते हैं उनको तो कोई कुछ भी नहीं कहता है; परन्तु जो कुगुरू रूपी सर्प को छोड़ देते हैं उन्हें मूर्ख लोग दुष्ट कहते हैं, यह बड़े खेद की बात है।

भावार्थ :- जो कुगुरू हैं वे सर्प से भी अधिक दुष्ट हैं। सर्प का त्याग करने वाले को तो सभी लोग अच्छा कहते हैं, और जो कुगुरू को त्यागता है

उसे मूर्ख लोग निगुरा, गुरूद्रोही, दुष्ट इत्यादि वचनों से संबोधित करते हैं, सो यह बड़ा खेद है।

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरू अणंताई देइ मरणाई।
तो वर सप्पं गहियं, मा कुरू कुगुरू सेवणं भद्दं।।37।।

सर्प का काटा तो एक बार ही मरण को प्राप्त होता है; परन्तु कुगुरू के सेवन से मिथ्यात्वादिक की पुष्टि होने से नरक-निगोदादिक में जीव अनंतबार मरण को प्राप्त होता है। इसलिये हे भद्र! सर्प का संग भला है, परन्तु कुगुरू का सेवन भला नहीं है, तू वह मत कर।

णिद्दक्खिण्णो लोओ, जइ कुवि मग्गेइ रुट्टिया खंडं।
कु गुरु संणाग बयणे, दक्खिणं हा महामोहो।।

यदि कोई रोटी का टुकड़ा भी मांगता है तो लोक में उसे प्रवीणता रहित बावला कहते हैं; परन्तु कुगुरू अनेक प्रकार के परिग्रह की याचना करता है तो भी लोग उसे प्रवीण कहते हैं। सो हाय! हाय!! यह मोह का ही माहात्म्य है।

किं भणिमो किं करिमो, ताण हआसाण घिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसिउण लिंगं, खिंचंति णरयम्मि मुद्धजणं।।40।।

आचार्य कहते हैं कि अरे! उन कुगुरूओं को हम क्या कहें? और क्या करें? वे कुगुरू मुनि का बाह्य भेष दिखाकर भोले जीवों को नरक में खींच ले जाते हैं। वे कुगुरू कैसे हैं? जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक से रहित हैं तथा लज्जा रहित हैं; और वे जैसे चाहे बोलते हैं अतः दीठ है, और धर्मात्माओं के प्रति द्वेष रखते हैं, अतः दुष्ट हैं।

भावार्थ- जहाँ मिथ्यादृष्टियों का बहुत जोर हो, वहाँ धर्मात्मा पुरूषों को रहना उचित नहीं है; उन्हें तो जिनधर्मियों की संगति में रहना ही उचित है।।48।।

सुरतरु चिंतामणिणो, अग्घंण लहंति तस्स पुरिसस्स।
जो सुविहि रय जणाणं, धम्माधारं सया देई।।53।।

जो पुरूषं शास्त्र स्वाध्याय आदि भले आचरण करने वाले जीवों को सदाकाल धर्म का आधार देता है और उनका निर्विघ्न शास्त्र स्वाध्याय होता रहे, ऐसी सामग्री का मेल मिलाता रहता है, उस पुरूष का मूल्यांकन कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न से भी नहीं हो सकता है अर्थात् वह पुरूष उनसे भी महान है।

इयरजण संसणाए, धिद्धी उस्सूत्त भासिए ण भयं।
हा हा ताण णराणं, दुहाइजइ मुणइ जिणणाहो।।56।।

इतरजनों से प्रशंसा चाहने के लोभ से-मुझे सब अच्छा कहेंगे, इस अभिप्राय से जो जिनसूत्रों के विरूद्ध बोलने से नहीं डरते हैं उन्हें धि:क्कार है। हाय! हाय!! उन जीवों को पर-भव में जो दुख होंगे वे केवली भगवान ही जानते हैं।

मुद्धाण रंजणत्थं, अविहिय तं संकथापि ण करिज्जं।
किं कुल वहुणो कत्थवि, थुणंति बेस्साणचरियाइं।।58।।

मूर्खों को प्रसन्न करने के लिये मिथ्यादृष्टियों के विपरीत आचरण की प्रशंसा करना कदापि योग्य नहीं। क्या कुलवधू कभी वेश्या के चरित्र की प्रशंसा करती है? कभी नहीं।

को असुआणं दोसो, जं सुअसुहियाण चेयणा णट्ठा।
घिद्धि कम्माण जओ, जिणो वि लद्धो अलद्धत्ति।।60।।

जब जिनवाणी समझने वाले भी बुद्धि नष्ट हो जाने पर कर्मोदयवश अन्यथा आचरण करने लगते हैं तब जिन्हें शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है उन्हें क्या दोष दें? अरे! कर्मोदय को धिक्कार हो! धिक्कार हो!! क्योंकि उसके वश होने पर जीव को जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान ही है।

जिणमय अवहीलाए, जं दुक्खं पावणंति अण्णाणी।
णाणीण संभरित्ता, भयेण हियथं थरत्थरई।।69।।

जिनमत की अवज्ञा करने मात्र से अज्ञानी जीवों को जितना दुख प्राप्त होता है, उन दुखों का स्मरण करने से ही ज्ञानी पुरूषों का हृदय थर-थर कांप उठता है।

जो गिह कुटुंब सामी, संतो मिच्छत्त रोयणं कुणई।
तेण सयलो वि वंसो, परिखित्तो भव समुद्दम्मि।।77।।

जो घर-कुटुम्ब का स्वामी होकर मिथ्यात्व की रूचि और प्रसंसा करता है उसने अपने समस्त कुल को संसार समुद्र में डुबो दिया।

जइ अइ कलम्मि खुत्तं, सगडं कड्ढंति केवि धुरि धवला।
तह मिच्छाउ कुडुंबं, इह बिरला केवि कड्ढंति।।79।।

जैसे अत्यंत कीचड़ में फंसी हुई गाड़ी को बलवान वृषभ ही बाहर खींच पाते हैं, वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्वरूपी कीचड़ में फंसे हुए अपने कुटुम्ब को उसमें से कोई विरला उत्तम पुरूष ही बाहर निकाल पाता है।

किं सो बि जणणि जाओ, जाओ जणणी ण किं गओ पुट्ठी।
जइ मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं बहई।।81।।

जो पुरूष मिथ्यात्व में लीन है और सम्यक्त्वादि गुणों के प्रति मत्सर भाव रखता है तो उस पुरूष ने माता के पेट से जन्म ही क्यों लिया? उसका जन्म लेना व्यर्थ है।

सम्मत्त संजुयाणं, बिग्घंपि होइ उच्छउ सारिच्छं।
परमुच्छवंपि मिच्छत, संजुअं अइ महा विग्घं।।85।।

सम्यक्त्व सहित जीव को विघ्न भी हो तो वह उसे उत्सव समान मानता है और मिथ्यात्व सहित जीव को परम उत्सव भी हो तो वह उसे महाविघ्न है।

जो पुरूष सम्यक्त्व रूपी रत्नराशि से सहित हैं वे धन-धान्यादि से रहित होने पर भी वास्तव में वे वैभव सहित ही हैं और जो पुरूष सम्यक्त्व से रहित हैं वे धनादि सहित हों तो भी दरिद्री ही हैं।।88।।

श्रद्धावान जीवों को जिनराज की पूजा के समय में कोई करोड़ों का धन दे तो भी वे असार धन को छोड़कर स्थिर चित्त से सारभूत जिनराज की पूजा ही करते हैं।।89।।

साहीणे गुरूजोगे, जे णहु सुणंति सुद्ध धम्मत्थं।
ते घिट्ठ दुट्ठ चित्ता, अह सुहड़ा भव भय विहूणा।।93।।

धर्म का सत्यार्थ मार्ग दिखलाने वाले स्वाधीन सुगुरू का सुयोग मिलने पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप नहीं सुनते वे पुरूष दीठ और दुष्ट चित्त वाले हैं तथा संसार परिभ्रमण के भय से रहित सुभट हैं।

किरियाइ फडाडोबं, अहिय साहंति आगम विहूणं।
मुद्धाणं रंजणत्थं, सुद्धाणं हीलणत्थाए।।100।।

जो जीव आगम रहित तपश्चरण आदि क्रियाओं का आडम्बर बहुत करते हैं उनसे मूर्ख जीव तो प्रसन्न होते हैं; किन्तु शुद्ध सम्यग्दृष्टियों द्वारा वे निन्दनीय हैं।

भावार्थ :- कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव जिनाज्ञा बिना बहुत आडम्बर धारण करते हैं, जो मूर्खों को बहुत रूचते हैं, परन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यह समस्त क्रिया जिनाज्ञा रहित होने से कार्यकारी नहीं है।

जो शुद्ध जिनधर्म का उपदेश देता है वह ही लोक में प्रगटपने धर्मात्मा है, ऐसा परम आत्मा जयवंत हो, न कि अन्य धन-धान्यादि पदार्थों का देने वाला; क्योंकि क्या कल्पवृक्ष की बराबरी कोई वृक्ष कर सकता है? कदापि नहीं।।101।।

भावार्थ :- जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश हो जाने पर भी उल्लुओं का

अंधत्व नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सद्‌गुरू के वचनरूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी जिनका मिथ्यात्व अन्धकार नष्ट नहीं होता, वे जीव उल्लू जैसे ही हैं। जिसकी होनहार भली नहीं है उसे सुगुरू का सदुपदेश कभी रूचता नहीं है, विपरीत ही भासित होता है।।108।।

तीन लोक के जीवों को निरन्तर मरता देखकर भी जो जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते, पापों से विराम नहीं लेते, ऐसे जीवों के ढीटपने को धिक्कार है।।109।।

अइया अइ पाविट्ठा, सुद्धगुरूजिणवरिंद तुल्लंति।
जो इह एवं मण्णइ, सो विमुहो सुद्ध धम्मस्स।।130।।

इस काल में जो पापिष्ठ और परिग्रह के धारी कुगुरूओं की सद्‌गुरू या जिनराज से तुलना करता है और ऐसा मानता है कि पापी कुगुरू एवं सुगुरू समान हैं–वह जीव पवित्र जिनधर्म से विमुख है।

जिस जिनेन्द्रदेव को तुम प्रीतिपूर्वक पूजते हो, नमस्कार करते हो और उनके वचनों का पक्ष करते हो; उन जिनेन्द्रदेव के वचनों को तुम मानते नहीं हो, तो फिर तुम्हारे नमस्कार करने और पूजने का क्या फल मिलेगा?।।131।।

मा मा जंपह बहुअं, जे बद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं।
सव्वेसिं तेसिं जइ, इहि उवएसो महादोषो।।125।।

जो जीव बहुत चिकने कर्मों से बंधे हुए हैं उन्हें उपदेश देना महादोष है। अत: उन्हें उपदेश मत दो, मत दो।

अहो! वह मंगल दिवस कब आयेगा कि जब मैं श्री गुरू के पादमूल में उनके चरणों के समीप बैठकर जिनधर्म का श्रवण करूंगा? कैसा होकर सुनूंगा? उत्सूत्र से लेशमात्र भी रहित होकर अर्थात् अज्ञानरूपी विष के कण के अंशमात्र से भी रहित होकर सुनूंगा।।128।।

जे जे दीसंति गुरू, समय परिक्खाइ तेण पुज्जंति।
पुण एगं सद्दहणं, दुप्पसहो जाव जं चरणं।।139।।

वर्तमान समय में संसार में जो-जो गुरू दिखाई देते हैं या गुरू कहलाते हैं उन सबकी शास्त्र द्वारा परीक्षा करके पूजना योग्य है। जिसमें शास्त्रोक्त गुण नहीं पाये जायें, उनको तो मूर्खों के सिवाय कोई भी नहीं पूजता। आज कल तो सच्ची श्रद्धा करना भी कठिन है तो जीवनपर्यन्त चारित्र धारण करना कठिन कैसे नहीं होगा? इसलिये भी सम्यक् चारित्र के धारक हैं वे गुरू ही पूज्य हैं।

संपई दूसम समये, णामायरिएहिं जणिय जण मोहा।
सुद्ध धम्माउ णिउणा, चलंति बहुजण पवाआहो।।141।।

इस दुःखम पंचमकाल में आचार्य व गुरूपने के गुणों से रहित होकर भी नामधारी आचार्य व गुरू कहलाते हैं। उन्होंने लोक में ऐसा अविद्यारूपी अंधकार फैला दिया है जिससे निपुण पुरूष भी धर्म से चलायमान हो जाते हैं, तो भोले जीव उनके मायाजाल में क्यों नहीं फसेंगे? जरूर फसेंगे। उनका मायाजाल कैसा है? अनेक मूर्ख जीवों द्वारा चलाया भेड़चाल जैसा है, जिसे ज्ञानी पुरूष भी मानने लगते हैं।

जो जीव जिनेन्द्रदेव को मानते हुए भी अन्य कुदेवादिकों को प्रणाम करते हैं उन मिथ्यात्वरूपी सन्निपात से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है?।।14।।

इस विषम दुःखमा पंचमकाल में मैं यह जीवन मात्र धारण किये हूं और श्रावक का नाम भी धारण किये हूं वह भी महान आश्चर्य है।

भावार्थ :- इस काल में मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बहुत है, हम जीवित हैं और श्रावक कहलाते हैं वह भी आश्चर्य है।।159।।

> दूध और पानी मिले होने पर भी हंस स्वभाव से ही बिना परिश्रम के दूध को ही पीता है, उसी प्रकार सज्जन ज्ञानी-हंस शास्त्र समुद्र में से भेदज्ञान द्वारा केवल-आत्मा के सद्गुणों को ही ग्रहण करते हैं।
>
> *- श्री नेमिश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-56*

(10) तत्त्वानुशासन

बन्ध हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति कीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियम्।।12।।

बन्ध के सम्पूर्ण हेतुओं में मोह को-चक्रवर्ती की उपमा है तथा मिथ्याज्ञान उसके ही आश्रित रहने वाला मंत्री है, ऐसा कहा है।

ममाऽहंकार-नामानौ सेनान्यौ तौ चू तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः मोह-ब्यूहः प्रवर्तते।।13।।

मोह के जो दो पुत्रों-अहंकार और ममकार हैं वे दोनों इस मोह के सेनानायक हैं, जिसके व्यूहचक्र के आधीन मोहचक्री राजा उनके सेना के बीच अति-अति दुर्भेद-कोई उसे जीत न शके ऐसा बसता है।

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्म्यध्यानस्य चत्बारस्तत्त्वार्थेस्वामिनः स्मृताः।।46।।

अप्रमत्त तथा प्रमत्त साधु और देशसंयमत तथा (चौथेगुणस्थानवर्ती) सम्यग्दृष्टि जीव को तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान का स्वामी अधिकारी रूप स्मरण किया गया है।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत् स्वस्मै स्वतोयतः।
षट्कारकमयस्तस्मात् ध्यानमात्मैव निश्चयात्।।74।।

वास्तव में तो आत्मा, अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा द्वारा, अपने आत्मा के लिये स्व आत्म हेतु से ध्याता है। इसलिये कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणमता आत्मा स्वयं ही निश्चय से ध्यानस्वरूप है।

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमाऽऽमनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्या परमात्मा प्रकाशते।।81।।

साधक, स्वाध्याय से ध्यान को अभ्यास में लाये और ध्यान से स्वाध्याय

को चरितार्थ (सफल) करें। ध्यान और स्वाध्याय ऐसे दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है-स्वानुभव में आ सकता है।

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम्।।82।।

जो कोई यहां ऐसा कहता है कि ध्याता पुरूष के लिये यह काल (पंचमकाल) ध्यान के योग्य नहीं, वे जीव स्वयं अपना अर्हंत के मत विषयक अज्ञान प्रदर्शित करते हैं।

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।।118।।

ज्ञाता की सत्ता में ही ज्ञेय है, वह ध्येयता को प्राप्त होता है; इसलिये ज्ञानस्वस्वरूप आत्मा ही ध्येयतम सर्वोत्कृष्ट ध्येय है।

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत्।।144।।

प्रथम तो श्रुत-आगम द्वारा अपने को अपने में आत्म-संस्कारों से संस्कारित करे, उसके बाद ऐसे संस्कार प्राप्त स्व-आत्मा में अपने को एकाग्रता प्राप्त कर कुछ भी चिन्तवन न करे, अर्थात् स्वस्वरूप में सुदृढ़ता की प्राप्ति के लिये अन्य चिन्ता को छोड़कर अपने में लीन हो सकता है।

यस्तु नालम्बते श्रौतीं भावनां कल्पना-भयात्।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन् बहिश्चिन्तां विभर्ति च।।145।।

जो ध्याता कल्पना के भय से श्रोती (श्रुतात्मक) भावना का अवलंबन नहीं लेता तो वह अवश्य अपनी आत्मा के विषय में मोह को प्राप्त होता है और बाह्य चिन्ता को धारण करता है।

श्रोती भावना का स्वरूप

तथा हि चेतनाऽसंख्य-प्रदेशोमूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञान-दर्शन लक्षणः।।147।।

ध्याता श्रोती भावना में भाता है कि मैं चेतन हूँ, असंख्य प्रदेशी हूं, मूर्ति रहित अमूर्त हूँ, सिद्धसमान शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ।

नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्या ऽहमेव मे।।148।।

मैं अन्य नहीं, अन्य वह मैं नहीं। मैं अन्य का नहीं, और अन्य मेरा कुछ नहीं-वास्तव में अन्य वह अन्य ही है, मैं ही मैं हूँ। अन्य जो है वह अन्य का है और मैं ही मेरा हूँ।

भावार्थ - आत्मा स्वयं स्व-पर ज्ञप्तिरूप है उसे अन्य कोई कारण या निमित्त की जरूरत नहीं, इसलिये करणान्तर की चिन्ता का त्याग करके स्वज्ञप्ति द्वारा आत्मा को जानना चाहिये।।162।।

ध्यान की सिद्धि के लिये मुख्य उपाय इस प्रकार का चतुष्टय है : 1. गुरू का उपदेश, 2. श्रद्धा, 3. निरन्तर अभ्यास, 4. स्थिर मन - ये चार निमित्त हैं।।218।।

> हे भव्य! लोक में नमन करने योग्य पुरुष भी जिनको नमस्कार करते हैं, ध्याने योग्य पुरुष भी जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं तथा स्तुति करने योग्य पुरुष भी जिसकी स्तुति करते हैं-ऐसा परमात्मा इस देह में ही विराजता है। उसको जैसे भी बने वैसे जान। *-आचार्य कुन्दकुन्द : मोक्षपाहुड़, गाथा-103*

(11) रत्नकरण्ड श्रावकाचार

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।2।।

इस ग्रन्थ में उस धर्म का उपदेश करता हूँ जो प्राणियों को पञ्चपरितर्वन रूप संसार के दुख से निकाल, बाधारहित, उत्तम सुख में धारण करे, जो समीचीन है तथा कर्मबंधन नष्ट करने वाला है।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।10।।

जो पाँच इन्द्रियों के विषयों की आशा-वांछा से रहित हो, छह काय के जीवों के घात करने वाले आरम्भ से रहित हो, अन्तरंग-बहिरंग समस्त परिग्रह से रहित हो तथा ज्ञान-ध्यान-तप में आसक्त हो, ऐसे तपस्वी गुरू की प्रशंसा करते हैं।

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापाश्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।।27।।

'सम्यग्दृष्टि विचारता है-जो ज्ञानावरणादि अशुभ पाप प्रकृतियों का आश्रव होना मेरे रूक जाता है तो इससे अन्य संपदा से मेरे क्या प्रयोजन है? और जो हमारे पाप का आश्रव होता है और सम्पदा आती है, तो इस सम्पदा से क्या प्रयोजन है?।

सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंगदेहजस्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्।।28।।

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल को देवा-गणधर देव हैं वे देव कहते हैं, जैसे भस्म से दबे हुए अंगार के आभ्यंतर में तेज रहता है।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वाजायते धर्म किल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छिरीरिणाम्।।29।।

धर्म के प्रभाव से श्वान (कुत्ता) भी स्वर्गलोक में जाकर उत्पन्न होता है और पाप के प्रभाव से स्वर्ग लोक का महान ऋद्धिधारी देव भी श्वान में आकर उत्पन्न हो जाता है तथा प्राणियों को धर्म के प्रभाव से और भी वचन के द्वारा न कही जा सके ऐसी अहमिन्द्रों की सम्पदा तथा अविनाशी मुक्ति सम्पदा प्राप्त हो जाती है।

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।।32।।

विद्या-ज्ञान, वृत्त-चारित्र इनकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल का उदय यह सम्यक्त्व के नहीं होने पर नहीं होते, जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल प्राप्ति नहीं होती है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।33।।

जिसके दर्शन मोह नहीं, ऐसा गृहस्थ वह मोक्षमार्ग में स्थित है और मोहवान अनगार-गृहरहित मुनि वह मोक्षमार्गी नहीं है। इसलिये मोहवान मुनि से दर्शनमोह रहित गृहस्थ वह श्रेयान्-सर्वोत्कृष्ट है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।34।।

इस प्राणी को सम्यग्दर्शन समान तीन काल-तीन लोक में अन्य कल्याण नहीं और मिथ्यात्व समान तीनकाल-तीनलोक में अन्य कोई अकल्याण नहीं है।

आगम में निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करने में दूती समान है इसलिए भवभीरू भव्यजीवों को यत्नपूर्वक अपनी बुद्धि शास्त्र अध्ययन, श्रवण, मनन आदि में लगाना चाहिए। -आ. अमितगति ; योगसार प्राभृत, चारित्र अधि. गाथा-76

(12) भगवती आराधना

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणे यव्वो।।38।।

जिसे जिनसूत्र में कहा एक भी पद और अक्षर नहीं रूचता, शेष में रूचि होते हुए भी निश्चय से उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्जजिणदिट्ठ।
सो वि कुजोणिणिबुड्डो किं पुण सव्वं अरोचंतो।।61।।

जिन भगवान के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रूचता नहीं वह मरे तो कुयोनियों डूबता है, तब जिसे सब ही नहीं रूचता उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है?।

णिउणं विउलं शुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं।।68।।

निपुण, विपुल, शुद्ध, अर्थ से पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्य कर्म भावकर्म रूपी मल का नाशक जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये।

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसय रसपसरमसुदपुव्वं तु।
तह तह पल्हादिज्जि नवनवसंवेगसड्ढाए।।104।।

जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना, ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है, तैसे-तैसे नई-नई धर्म श्रद्धा से आह्लाद युक्त होता है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्सकोडिहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण।।107।।
छट्ठदुमदसमद्दुवालसेहिं अण्णाणियस्य जा सोही।
तत्तो बहुगुण दरिया होज्ज द जिमिदस्स णाणिस्स।।108।।

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहुर्तमात्र में क्षय करता है।।107।।

अज्ञानी के दो, तीन, चार, पांच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुनी शुद्धि ज्ञानी को भोजन करते हुए होती है।

इतनी शीघ्रता से कर्मों को काटने की शक्ति अन्य तप में नहीं है, यह स्वाध्याय का ही अतिशय है।।108।।

अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरे के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिनशासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिये। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और धर्मप्रभावना होती है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है।।110।।

प्राणों के कण्ठ में आ जाने पर भी साधु को आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।।153।।

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिये जिसको लेकर कषायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है और उस वस्तु को अपनाना चाहिये जिसके अपनाने में कषायों का उपशम हो।।264।।

टीका-कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टि को मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शनरूपी वन को उजाड़ देती है। चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है। तपरूपी पत्रों को जला देती है। अशुभ कर्मरूपी बेल की जड़ जमा देती है। शुभकर्म के फल को रसहीन कर देती है। अच्छे मन को मलिन करती है। हृदय को कठोर बनाती है। प्राणियों का घात करती है। वाणी को असत्य की ओर ले जाती है। महान गुणों का निरादर करती है। यशरूपी धन को नष्ट

करती है। दूसरों को दोष लगाती है। महापुरूषों के भी गुणों को ढांकती है। मित्रता की जड़ खोदती है। किये हुए भी उपकार को भुलाती है। महानरक के गढ्डे में गिराती है। दुखों के भंवर में फंसाती है। इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है - ऐसी भावना से कषाय को शान्त करना चाहिये।।265।।

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो।
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुओ लोओ।।313।।
एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे।
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव।।314।।

अति महान मोहरूपी आग के द्वारा सुर-असुर और मनुष्यों सहित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है। घोर महावेदना से उसके अंग टूट-फूट रहे हैं।

इस लोक के जलने पर भी मुनियों को कोई वेदना नहीं है। क्योंकि ज्ञानरूपी जल के प्रवाह से मोहरूपी आग के नष्ट हो जाने से तथा रागद्वेष के शान्त हो जाने से वे दाह से मुक्त हैं।

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया बिमोचेदुं।
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं।।338।।

जैसे मनुष्य के कफ में फंसी हुई मक्खी उससे अपने को छुड़ाने में असमर्थ होती है, वैसे ही भार्या का अनुगामी साधु भी उससे अपने को छुड़ाने में असमर्थ होता है।

दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झयारम्मि।
ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे बेरग्गमवहाय।।351।।

दुर्जनों की संगति से प्रभावित मनुष्य को सज्जनों का सत्संग रूचिकर नहीं लगता। वह वैराग्य को त्यागकर दुर्जनों में ही रमता है।

पार्श्वस्थ-चारित्र में क्षुद्र यति-मुनि लाख भी हों तो उनसे एक भी

सुशील यति-मुनि श्रेष्ठ है, जो अपने संगी के शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बढ़ाता है। आपको उसी का आश्रय लेना चाहिये।।356।।

दुर्जन के द्वारा की गई पूजा से संयमीजनों के द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है। कारण कि दुर्जन का संसर्ग शील का नाशक है किन्तु संयमी जनों द्वारा किया गया अपमान शील का नाशक नहीं है।।357।।

अप्पपसंसं परिहर सदा मा होह जसविणासयरा।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि।।361।।

अपनी प्रशंसा सदा के लिये छोड़ दो। अपने यश को नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणों के कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करने से नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनों के मध्य तृण की तरह लघु होता है।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव।।364।।
संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुण कित्तणं कुज्जा।।365।।

अपने गुणों की प्रशंसा करने वाले पुरूष में अविद्यमान गुण प्रशंसा करने से उत्पन्न नहीं होते। स्त्री की तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुंसक-नपुंसक ही रहता है, युवती नहीं बन जाता।

सज्जन मनुष्यों के बीच में अपने विद्यमान गुण की भी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है। तब वह स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा कैसे कर सकता है!

जो कषाय से उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है।। 1325।।

वचन से गुणों को कहना उनका नाश करना है और आचरण से गुणों का कथन उनको प्रगट करना है।।367।।

जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है, वह दूसरे के द्वारा कड़वी औषधि पीने पर अपनी निरोगता चाहता है।।373।।

सत्पुरूष दूसरों के दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवाद के भय से वह अपनी तरह दूसरों के भी दोषों को छिपाता है।।374।।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता

टीका-मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है जैसे साधु के मुख में कठोर वचन, सूर्यमण्डल में अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधी में दया, लोभी में सत्य वचन, मानी में दूसरे के गुणों का स्तवन, स्त्री में सरलता, दुर्जनों में उपकार की स्वीकृति, आप्ताभासों के मतों में वस्तु तत्त्व का ज्ञान दुर्लभ है। देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और संयम से लोक में उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

...इस लोक में जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपात से महाभयग्रस्त रहता है। जैसे आकाश से अचानक वज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीर का घात करता है। बल, आयु, रूपादिक गुण तभी तक हैं जब तक शरीर में रोग नहीं होता। पेड़ की डाल में लगा फल तभी तक नहीं गिरता जब तक हवा नहीं चलती। उसे अपने शरीर में पीड़ा होने पर सुख पूर्वक कल्याण करना शक्य नहीं है। घर के चारों ओर से न जलने पर ही पुरूष कुछ कर सकता है। घर भस्म हो जाने पर कुछ नहीं कर सकता।

...मनुष्य के द्वारा धर्म तत्व का जानना कठिन है। जानकर भी उसमें प्रयत्नशीलता कष्टकर है। उस धर्म को जानकर, तत्त्वदृष्टि से सम्पन्न मनुष्यो! धैर्य धारण करके समीचीन धर्म के विषय में एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो। पापकार्य से अति सुख कर होने पर भी यह धर्म मनुष्यों को क्षण भर के लिये दुष्कर होता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह निश्चय ही धर्मों की गुरूता का फल है। यह मनुष्य एक कौड़ी में भी महान गुण मानकर उसके लिये अतुल श्रम करता है, किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्यों की ऋद्धि के मूल

धर्म में मन को स्थिर नहीं करता। यह ठीक ही है, यदि ऐसा न होता तो पुरूष इस पृथ्वी पर संसार कैसे पाता ? सर्वत्र भ्रमण कैसे करता?

.....एक प्राणी नाना जन्मों में भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सुख सब शरीरों में मिलकर भी नहीं होता। तब इस जन्मरूपी समुद्र में एक जीव उस सुख का कितना भाग भोगता है? जैसे वन में एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हिरण सब ओर से त्रस्त रहता है, वैसी ही दशा जीव की संसार में है। अनन्त भवों में एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है, तो एक जन्म में जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा? अत्यल्प भी यह सुख-दुख के समुद्र में गिरकर दुखरूप ही हो जाता है, जैसे मीठे मेघों का पानी लवण समुद्र में पड़कर खारा हो जाता है।।448।।

अपने काम में तत्पर किन्तु दूसरे का हित करने में आलसी मनुष्य लोक में बहुत हैं, किन्तु अपने कार्य की तरह दूसरों के कार्य की चिन्ता करने वाले मनुष्य लोक में दुर्लभ हैं।

जो अपने कार्य की चिन्ता में तत्पर होते हुए दूसरों के कार्य को भी कठोर एवं कटुक वचनों से साधते हैं वे पुरूष लोक में अत्यन्त दुर्लभ हैं।।484-485।।

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभेवे पमोत्तूण।।681।।

जो जीव एक भव में समाधिमरण पूर्वक मरता है व सात-आठ भव से अधिक काल तक संसार में परिभ्रम नहीं करता।

जं वद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण।।716।।

असख्यात लक्षकोटिभवों में जो कर्मरज बांधा है उसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर एक समय में ही जीव नष्ट कर देता है।

अग्गिविषकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू।
जं कुणदि महादोषं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं।।728।।
अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोषं करेदि भवकोडिकोडीसु।।729।।
मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा।।730।।

आग, विष, काला सर्प आदि जीव का उतना दोष नहीं करने जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है।

आग आदि तो एक भव में ही दुख देते हैं, किन्तु मिथ्यात्व करोड़ों भवों में दुख देता है।

मिथ्यात्व नामक शल्य से बींधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं, जैसे विषैले बाण से छेदे गये मनुष्यों का कोई प्रतिकार नहीं है।

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो।।
लद्धूण वि तेलोक्के परिवडदि हु परिमिदेण कालेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं।।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बदले में यदि तीनों लोक प्राप्त होते हों तो त्रैलोक्य की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति श्रेष्ठ है।।741।।

तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतने पर वे छूट जाते हैं, किन्तु सम्यक्त्व को प्राप्त करके अविनाशी सुख देने वाला मोक्ष प्राप्त होता है।।742।।

लोभ से घिरा मनुष्य समस्त जगत को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता।।849।।

इधर-उधर करने वाले मनरूपी बन्दर को सदा जिनागम में लगाना चाहिये। जिनागम में लगे रहने से वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वाले में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा।।764।।

जिस विशुद्ध लेश्या वाले के हृदय में ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान के द्वारा कहे गये आगम में प्रवृत्त रहते हुए 'मैं संसार की भंवर में गिरकर नष्ट हो जाऊंगा', ऐसा भय नहीं रहता।।766।।

तीनों लोक और जीवन में से एक को स्वीकार करो? ऐसा देवों के द्वारा कहे जाने पर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनों लोकों को ग्रहण करना चाहेगा? अत: इसी प्रकार सभी प्राणियों के जीवन का मूल्य तीनों लोक है, अत: जीव का घात करने वालों को तीनों लोकों के घात करने के समान दोष होता है।।781-82।।

कामरूपी सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डे से उत्पन्न होता है। उसके राग-द्वेष रूप दो जिह्वायें होती हैं जो सदा चलती रहती हैं। विषयरूपी विल में उसका निवास है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी कांचली है जिसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकार के दुख उसका जहर है। ऐसे कामरूपी सर्प से डंसा हुआ मनुष्य नाश को प्राप्त होता है।।884-85।।

स्त्री का स्वरूप

जो स्त्रियों का विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, कांटे, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प और शत्रु का विश्वास करता है अर्थात् स्त्री पर विश्वास इनकी तरह भयानक है।।946।।

लोक में जितने तृण हैं, जितनी लहरें हैं, जितने वालु के कण तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियों के मनों-विकल्प हैं।।956।।

आकाश की भूमि, समुद्र का जल, समेरू और वायु का भी परिमाण मापना शक्य है, किन्तु स्त्रियों के चित्त का मापना शक्य नहीं है।।957।।

जैसे बिजली, पानी का बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियों की प्रीति एक पुरूष में बहुत समय तक नहीं रहती।।958।।

क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथी को पकड़ना शक्य हो सकता है लेकिन दुष्ट स्त्री के चित्त को पकड़ पाना शक्य नहीं है।।960।।

स्त्री के वचन में अमृत भरा रहता है और हृदय में विष भरा होता है।।964।।

महावली मनुष्य समुद्र को पार करके जा सकता है किन्तु मायारूपी जल से भरे स्त्रीरूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता।।968।।

रत्नों से भरी किन्तु व्याघ्र के निवास से युक्त गुफा और मगरमच्छ से भरी सुन्दर नदी की तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है।।969।।

मनुष्य का ऐसा 'अरि' दूसरा नहीं है इसलिये 'नारी' कहते हैं। पुरूष को सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे 'प्रमदा' कहते हैं।।972।।

पुरूष के गले में अनर्थ लाती है अथवा पुरूष को देखकर विलीन होती है इसलिये 'बिलया' कहते हैं। पुरूष को दुख से योजित करती है इससे 'युवती' और 'योषा' कहते हैं।।973।।

उसके हृदय में धैर्यरूपी बल नहीं होता अत: वह 'अबला' कही जाती है। कुमरण का कारण है अत: 'कुमारी' कहते हैं।।974।।

पुरूष पर आल-दोषारोप करती है इसलिये 'महिला' कहते हैं। इस प्रकार स्त्रियों के सब नाम अशुभ होते हैं।।975।।

कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाये, सूर्य शीतल हो जाये, आकाश कठोर हो जाये, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्रपरिणामी नहीं होती।।984।।

बालत्तणे कदं सव्व मेव जदि णास संमरिज्ज तदो।
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि।।1019।।

यदि बचपन में किये गये कर्मों को याद किया जाये तो दूसरे की तो बात ही क्या, अपने से ही वैराग्य हो जाये।

जदिदा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी।
सव्वम्मि दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं।।1048।।

यदि एक नेत्र में ही छियानवे रोग होते हैं तो समस्त शरीर में कितने रोग होंगे। (शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पाँच सौ चौरासी रोग होते हैं।)

मनुष्यों के इन्द्रियां, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जल के बुलबुले की तरह अनित्य है।।1054।।

जैसे पीछे लगे व्याघ्र के भय से भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कुंए में गिरा जिसमें सर्प रहता था। उस कूप की दीवार पर एक वृक्ष था, उसकी जड़ पकड़कर वह लटक गया, उस जड़ को चूहे काट रहे थे, किन्तु उस पर मधुमक्खियों का एक छत्ता लगा था उसमें से मधु की बूंद टपककर उसके ओठों में आती थी। वह संकट भूलकर उसी मधु के बिन्दु के स्वाद में आसक्त हो गया।

उसी मनुष्य की तरह मृत्युरूपी व्याघ्र से भीत प्राणी अनेक दुखरूपी सर्पों से भरे संसार कूप में पड़ा है और आशारूपी जड़ को पकड़ हुए हैं।

किन्तु उस आशारूप जड़ को बहुत से विघ्न रूपी चूहे काट रहे हैं, फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुख में निमित्त विषयरूपी मधु की बूंद के आस्वाद में डूबा हुआ है।।1057-58-59।।

इस विषयरूप समुद्र में यौवन रूप जल है, स्त्री का हंसना, चलना, देखना, उसकी लहरें हैं और स्त्रीरूप मगरमच्छ हैं जो इन मगरमच्छों से अछूते रहकर इस समुद्र को पार करते हैं वे धन्य हैं।।1110।।

ये इस प्रकार के विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह '**आशा**' है। ये कभी भी मुझसे अलग न हों इस प्रकार की अभिलाषा '**तृष्णा**' है। परिग्रह में आशक्ति '**संग**' है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा संकल्प '**ममत्व**' है। अत्याशक्ति वह '**मुहूर्त**' है।।1175।।

चक्रवर्ती के सुख का फल राग है, क्योंकि विषय सुख का सेवन पुरूष को विषय में अनुरक्त करता है तथा वह तृष्णा को बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धि को-लंपटता को उत्पन्न करता है, उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्ती का सुख अपरिग्रही को जो परिग्रह त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है।।1177।।

जो मुक्ति के उत्कृष्ट सुख का अनादर करके अल्प सुख के लिये निदान करता है वह करोड़ों रूपयों के मूल्यवाली मणि को एक कौड़ी के बदले बेचता है।।1215।।

जो निदान करता है, वह लोहे की कील के लिये अनेक वस्तुओं से भरी नाव को जो समुद्र में जा रही है तोड़ता है, भस्म के लिये गोशीर्ष चन्दन को जलाता है और धागा प्राप्त करने के लिये मणिनिर्मित हार को तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़े से लाभ के लिये बहुत हानि करता है।।1216।।

जैसे व्यापारी लोभवश लाभ के लिये अपना माल बेचता है, वैसे ही निदान करने वाला मुनि भोगों के लिये धर्म को बेचता है।।1238।।

जैसे मत्स्य भय को न जानते हुए जाल के मध्य उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसार की चिन्ता न करके परिग्रह आदि में आनन्द मानते हैं।।1269।।

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोई।।

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यासवश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतों को ग्रहण करके भी कोई-कोई इन्द्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणाम वाले होते हैं।।1312।।

वाहभयेण पलादो जूहं दट्ठूण बागुरापडिदं।
सयमेव मओ बागुरमदीदि जह जूहतण्हाए।।

जैसे बाघ के भय से भागा हुआ हिरन अपने झुण्ड को जाल में फंसा देखकर झुण्ड के मोह से स्वयं भी जाल में फंस जाता है, वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागने के बाद स्वयं ही उसमें फंस जाता है।।1313।।

जैसे पिंजरे से मुक्त हुआ पक्षी उद्यानों में स्वेच्छा पूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवास के प्रेमवश पिंजरे में चला जाता है।।1314।।

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव।
लोलो किविणो भंजदि सुणहो जध असणतण्हाए।।
एवं केई गिहिबास दोसमुक्का वि दिक्खिदा संता।
इंदिय कषाय दोसेहि पुणो ते चेव गिण्हंति।।

जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही बमन किये भोजन को भोजन की तृष्णावश लोलुपता से खाता है।।1318।।

वैसे ही गृहवास के दोषों से मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवास के उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूपी दोषों को स्वीकार करता है।

गृहवास को बुरा क्यों कहा ?

गृहस्थाश्रम-'यह मेरा है' इस भाव का अधिष्ठान है। निरन्तर माया और लोभ को उत्पन्न करने में दक्ष जीवन के उपायों में लगाने वाला है। कषायों की खान है। दूसरों को पीड़ा देने और अनुग्रह करने में तत्पर रहता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में उसका व्यापार सदा चलता रहता है। मन-वचन-काया से सचित्त-अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्यों के ग्रहण और बढ़ाने के लिये उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असारता में सारता, अनित्य में नित्यता, अशरण में शरणता, अशुचि में शुचिता, दुख में सुखपना, अहित में हितपना, अनाश्रय में आश्रयपना, शत्रु में मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है। भय और शंका से युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है।

जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहे के पिंजरे के पेट में गये सिंह की तरह, जाल में फंसे हिरणों की तरह, अन्यायरूपी कीचड़ में फंसे बूढ़े हाथी की तरह, पाश से वृद्ध पक्षी की तरह, जेल में बन्द चोर की तरह, व्याघ्रों के मध्य बैठे दुर्बल हिरण की तरह, जिसके पास में जाने से संकट आया है ऐसे जाल में फंसे मगर-मच्छ की तरह, जिस गृहस्थाश्रम में रहने वाला मनुष्य कालरूपी अत्यंत गाढ़े अन्धकार के पटल से आच्छादित हो जाता है।

रागरूपी महानाग उसे सताते हैं। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भेड़िये उसके पीछे लगे रहते हैं। कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है। दुराशारूपी लताओं से वह ऐसा बंध जाता है कि हाथ-पैर भी नहीं हिला पाता। प्रिय का वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकड़े कर डालता है। प्रार्थना करने पर न मिलने रूपी सैकड़ों वाणों का वह तरकस बन जाता है। मायारूपी बुढ़िया उसे जोर से चिपकाये रहती है। तिरस्कार रूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते हैं। अपयशरूपी मल से वह लिप्त होता है। महामोहरूपी जंगली हाथी के द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घातकों के द्वारा वह ज्ञान शून्य कर दिया जाता है। भयरूपी लोहे की सुइयों से कोचा जाता है। प्रतिदिन श्रम रूपी कौओं के द्वारा खाया जाता है। ईर्ष्यारूपी काजल से विरूप किया जाता है। परिग्रहरूपी मगर-मच्छों के द्वारा पकड़ा जाता है। जिस गृहस्थाश्रम में रहकर असंयम की ओर जाता है। असूयारूपी पत्नी का प्यारा होता है। अर्थात् दूसरे के गुणों में भी दोष देखता है। अपने को मानरूपी दानव का स्वामी मानने लगता है। विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रों की छाया का सुख उसे नहीं मिलता। वह अपने को संसाररूपी जेल से नहीं छुड़ा पाता। कर्मों का जड़मूल से विनाश नहीं कर पाता। मृत्युरूपी विषवृक्ष को नहीं जला पाता। मोहरूपी मजबूत सांकल को नहीं तोड़ता। विचित्र योनियों में जाने को नहीं रोक पाता। दीक्षा धारण करके इस प्रकार के गृहवास सम्बन्धी दोषों से मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषों को स्वीकार करता है।।1319।।

सो कंठोल्लगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी।

जो दिक्खिदो वि इंदियकषायवसिगो हवे साधू।।

जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषाय के आधीन होता है वह अज्ञानी अपने गले में पत्थर बांधकर अगाध तालाब में प्रवेश करता है।।1323।।

कुलीन और यश के अभिलाषी पुरूष का मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषाय के वश में रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है।।1327।।

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरमि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुद करणस्स।।

जैसे घोड़े की लीद ऊपर से चिकनी और भीतर से खुरदरी होती है वैसे ही किसी का बाह्य आचरण तो समीचीन होता है परन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते, उसे घोड़े की लीद के समान कहा है।।1341।।

अपने से हीन व्यक्तियों को देखकर मूर्ख लोग 'मान' करते हैं किन्तु विद्वान अपने से बड़ों को देख कर 'मान' दूर करते हैं।।1370।।

जो लोभ से ग्रस्त हैं उनके चित्त को तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता और जो शरीर की स्थिति में कारण किसी भी वस्तु को पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तु में ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अतः चित्त की शान्ति सन्तोष के आधीन है, द्रव्य के आधीन नहीं। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदय में महान् दुख रहता है।।1386।।

इन्द्रिय कषायरूपी घोड़े दुर्दमनीय हैं इनको वश में करना बहुत कठिन है। वैराग्यरूपी लगाम से ही ये वश में होते हैं। किन्तु उस लगाम के ढीले होने पर वे पुरूष को दुखदायी पापरूपी विषम स्थान में गिरा देते हैं।।1390।।

इन्द्रिय और कषायरूपी बाघ संयमरूपी मनुष्य को खाने के बड़े प्रेमी होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी लोहे के मजबूत पिंजरे से रोका जा सकता है।।1402।।

अच्छी तरह सैकड़ों छल-कपट करने पर भी पुण्यहीन के हाथ में

पुण्यशाली का धन नहीं आता।।1429।।

निद्रा का त्याग

यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो या सूक्ष्म अर्थों का विचार करो अथवा संवेग और निर्वेद को करने वाली कथा सुनो।।1435।।

निद्रा को जीतने के लिये पांच प्रकार के परावर्तन रूप संसार का विचार कर भय करो। रत्नत्रय की आराधना में प्रीति करो और पूर्व में किये दुराचरण के लिये शोक करो।।1437।।

जैसे घर में यदि सर्प घुस गया हो तो उसे निकाले बिना सोना शक्य नहीं है, उसी प्रकार जो संसाररूपी महावन से निकलना चाहता है वह दोषों को दूर किये बिना सोने में समर्थ नहीं होता।।1439।।

जलते हुए घर की तरह लोक के जन्म, मरण, जरा, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थित की अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आग से जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा।।1440।।

जैसे बहुत से शस्त्रधारी शत्रुओं के मध्य में कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसार को बढ़ाने वाले रागादि दोषों के उपशान्त हुए बिना कौन निर्भय होकर सो सकता है।।1441।।

वीर पुरूषों ने जिसका आचरण किया है, कायर पुरूष जिसकी मन में कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा।।1479।।

आपके इस प्रकार के उपदेशामृत को पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख, प्यास और मृत्यु से डरेगा।।1480।।

मैं अधिक क्या कहूँ, आपके चरणों के अनुग्रह से इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधना में विघ्न नहीं कर सकते।।1481।।

सुमेरू पर्वत अपने स्थान से विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये

किन्तु आपके अनुग्रह से मैं विकार से विचलित नहीं होऊंगा।।1483।।

जिस प्रवाह में महावली, महापराक्रमी और विशाल शरीर वाले हाथी बह जाते हैं, उस प्रवाह में बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं।।1613।।

जिस वायु से मेरू पर्वत का पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि गुणों से सम्पन्न देवों की भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्य की क्या गिनती है?।।1615।।

मोक्ष के अभिलाषी संयमी का मरना भी श्रेष्ठ होता है, किन्तु अरहन्त आदि को साक्षी करके किये गये त्याग का भंग करना श्रेष्ठ नहीं है।।1634।।

बिना त्याग किये मरने पर इतना दोष नहीं होता, जितना महादोष त्याग लेकर उसका भंग करने में होता है।।1636।।

अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत हैं अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है। जैसे समुद्र को पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओस की बूंद को चाटने से तृप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलों को खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजन से कैसे तृप्त हो सकते हो?।।1653।।

शहद से लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरूष का एक भव में ही अनर्थ करते हैं, किन्तु मुनि का अयोग्य आहार का सेवन तो सैकड़ों भवों में अनर्थकारी होता है।।1661।।

प्रतिदिन राहु के मुखरूपी बिल में प्रवेश करने से चन्द्रमा कृष्णपक्ष में घटता है और शुक्लपक्ष में पुनः प्रतिदिन बढ़ता है तथा हेमन्त, शिशिर, बसन्त आदि ॠतुऐं भी जाकर फिर वापिस आती हैं, परन्तु बीता हुआ यौवन उसी भव में नहीं लौटता। जैसे नदी का गया जल फिर वापिस नहीं आता, उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता।।1717।।

टीका–इस प्राणी का अज्ञानभाव महान् गुफा के भीतर भयंकर अन्धकार

में प्रवेश करने से, सदा अगाध जल में डूबे रहने से और चिरकाल तक जेलखाने में पड़े रहने से भी अधिक कष्टदायी है। अन्धकार में जल में डूबना और जेलखाने में पड़े रहना तो एक भव में दुखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुख अनन्तभवों में दुखदायी है। श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है, किन्तु बुद्धि से रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सकता। उस श्रुतज्ञान के होने पर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगर के कल्याणकारी मार्ग पर जाता है।।1724।।

जैसे-जैसे मनुष्य में वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्त का निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है।।1858।।

जैसे लवण समुद्र में पूर्व भाग में जुआ और पश्चिम भाग में आधी लकड़ी डाल देने पर दोनों का संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसार में मनुष्य भव का पाना दुर्लभ है।।1861।।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामों की बहुतायत के कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है तथा मनुष्य रहित लोक अति महान् है इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है, क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रों तक तो नरकवास है, ऊपर स्वर्गपटल है, शेष लोकाकाश भी महान है तथा जीवों की योनियां भी बहुत हैं, इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है।।1862।।

यदि तपस्वियों द्वारा सेवित पर्वत, नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणों की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं हैं।।2001।।

सब मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवों को तीनों कालों में जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धों के एक क्षणमात्र में होने वाले सुख के भी बराबर नहीं है।।2145।।

विनय पूर्वक सुनने में आया हुआ 'श्रुत' यदि किसी भी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाय तो दूसरे भव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है। *-श्री धवलाजी, भाग-9, पृष्ठ 259*

(13) ज्ञानार्णव

तच्छुतं तच्चा विज्ञानं तद्धयानं तत्परं तपः।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं ब्रजेत्।।9।।

जिसको प्राप्त करके यह जीव आत्मस्वरूप में लीन होता है उसे ही यथार्थ श्रुत, उसे ही विज्ञान, उसे ही ध्यान और उसे ही उत्कृष्ट तप समझना चाहिए। विशेषार्थ-अभिप्राय यह है कि श्रुत, विज्ञान, ध्यान और तप इन सबका प्रयोजन आत्मस्वरूप में लीन होना ही है।

दुरंतदुरिताक्रान्तं निःसारमतिवञ्चकम्।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः।।10।।

जन्म स्वरूप यह संसार बहुत कष्ट से नष्ट होने वाला, पाप से व्याप्त, सार रहित और अतिशय धोखा देने वाला है। इसके स्वरूप को जानकर भला ऐसा कौन सचेतन प्राणी है जो आत्मप्रयोजन में मोह को प्राप्त होता है।

स्वसिद्धयर्थं प्रवृत्तानां सतामप्यत्र दुर्धियः।
द्वेषवुद्धया प्रवर्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः।।32।।

संसार में कुछ ऐसे भी दुर्बुद्धिजन हैं जो आत्मसिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों के प्रति भी यहां द्वेषबुद्धि से प्रवृत्त होते हैं।

संगैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयै-
र्मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः।।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद् भोगा न किं बञ्चका।
येन स्वार्थमपास्य किंनरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा।।50।।

हे भव्य जीव! क्या परिग्रह तुझे खिन्न नहीं करते हैं, क्या यह तेरा शरीर रोगों के द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं किया जाता है, क्या मृत्यु तुझसे ईर्ष्या नहीं करती है, क्या आपत्तियां तुझे प्रतिदिन नहीं ठगती हैं, क्या नरक तुझे भयभीत नहीं करते हैं, क्या विषय भोग तुझे स्वप्न के समान ठगने वाले नहीं है, जिससे

कि तेरी इच्छा आत्म प्रयोजन को छोड़कर किन्नरपुर के समान सुहावने दिखने वाले इस संसार में स्थित रहने की है।

स्त्री आदि रूप विशाल फांसों में दृढ़ता के जकड़े हुए ये संसारी प्राणीरूप यात्री संसाररूप विस्तृत अन्धकूप में पड़ते हैं।।70।।

यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते।।84।।

इस संसार में प्रातःकाल के समय जिसके राज्याभिषेक की शोभा देखी जाती है उसी दिन में उसकी चिता का धुंआ भी देखा जाता है।

गलत्येवायुरत्यर्थं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे।
नलिनीदल संक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम्।।88।।

जिस प्रकार हाथ की अंजुली में रखा जल क्षणभर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों की आयु भी क्षण-क्षण में अतिशय क्षीण होती जाती है तथा जिस प्रकार कमलिनी के पत्र पर पड़ी हुई मोती जैसी सुन्दर ओस की बूंद शीघ्र ही बिखर जाती है उसी प्रकार प्राणियों का यौवन भी शीघ्र बिखर जाने वाला है।

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः।
धर्मस्यैते श्रिया सार्धं मन्ये भृत्याश्चिरंतनाः।।204।।

चिन्तामणि, दिव्यनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब लक्ष्मी के साथ उस धर्म के चिरकालीन सेवक हैं-ऐसा मैं समझता हूँ।

जो-जो कार्य अपने लिये अनिष्ट प्रतीत होता है उस-उस कार्य को दूसरों के प्रति वचन, मन और क्रिया के द्वारा स्वप्न में भी नहीं करना चाहिये। यह धर्म का प्रथम चिन्ह हैं।।221।।

जिस प्रकार हाथ से भ्रष्ट होकर महासमुद्र के भीतर गया हुआ अतिशय मूल्यवान रत्न पुनः सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार इस संसार

रूप समुद्र में सौभाग्य से प्राप्त हुआ अमूल्य बोधिरत्न (रत्नत्रय) नष्ट हो जाने पर पुनः सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता।

यहाँ संसार में सब ही वस्तुओं का समूह सुलभ है। अन्य की तो बात ही क्या, किन्तु यहाँ धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और इन्द्र को अभीष्ट आधिपत्य- उनकी विभूति तथा उत्तम कुल, विशिष्ट सामर्थ्य और स्वतन्त्र स्त्री आदि भी सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं। यदि यहाँ कोई दुर्लभ है तो वह एक बोधिरत्न ही है।।242-43।।

आयुः सर्वाक्ष सामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम्।।235।।

मनुष्य पर्याय को पाकर भी जो लम्बी आयु सब इन्द्रियों की परिपूर्णता, उत्तमबुद्धि और कषायों की उपशान्ति होती है, वह काकतालीय न्याय से ही प्राप्त होती है।।235।।

काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।।248।।

हे भव्य! यदि वह काकतालीय न्याय से तुझे प्राप्त हो गई है, तो तू आत्मा में आत्मा का निश्चय करके शरीरादि बाह्य पदार्थों से उसकी भिन्नता का निश्चय करके-उसे सफल कर ले।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पणमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः।।345।।

जिस प्रकार कितने ही निर्दय-निर्लज्ज मनुष्य माँ के मूल्य का आलम्बन लेकर- उसे वेश्या बनाकर आजीविका को सिद्ध करते हैं और इसके लिये लज्जित नहीं होते हैं, उसी प्रकार कितने ही निर्दय अपने आप पर भी दया न करने वाले मनुष्य मुनिलिंग को आजीविका का साधन बनाकर लज्जित क्यों नहीं होते हैं?।

अप्येकं दर्शनं श्लाध्यं चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते।।
अत्यल्मपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम्।
प्रणीतं भवसंभूत क्लेशप्राग्मार भेषजम्।।
मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम्।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम्।।
प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरण ज्ञानविच्युताः।
अपि जीवा जगत्यस्मिन् न पुनर्दर्शनं बिना।।

यदि चारित्र और ज्ञान से रहित एक ही वह सम्यग्दर्शन है तो वह अकेला भी प्रशंसनीय है। परन्तु उस सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्वरूप विष से दूषित चारित्र और ज्ञान दोनों भी प्रशंसनीय नहीं है।

सम्यग्दर्शन के साथ यदि संयम आदि अतिशय अल्प प्रमाण में भी हों तो भी उन्हें आगम के ज्ञाता गणधर आदि ने संसार परिभ्रमण से उत्पन्न कष्ट के भारी बोझ को नष्ट करने वाली औषधि बताया है।

जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, उस पवित्र आत्मा को मैं मुक्त हुआ ही मानता हूँ। कारण इसका यह है कि मुक्ति का प्रधान अंग उसे ही निर्दिष्ट किया गया है।

जो जीव चारित्र और ज्ञान से भ्रष्ट हैं वे निरन्तर मुक्ति को प्राप्त करते हैं परन्तु जो प्राणी उस सम्यग्दर्शन से रहित हैं वे इस संसार में कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं।।444 से 447।।

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोवलात्।
तद्विज्ञानी क्षणार्धेन दहत्यतुलविक्रमः।।

अज्ञानी जीव जिस पाप को तप के प्रभाव से करोड़ों जन्मों में जीतता है उसे विशिष्ट ज्ञानी जीव अनुपम पराक्रम से आधे क्षण में जला डालता है।।466।।

दान में दी गई कुलाचलों से संयुक्त सात द्वीपवाली पृथ्वी एक प्राणी के घात से उत्पन्न हुए पाप को नष्ट नहीं करती।।505।।

धर्मनाश के उपस्थित होने पर, शास्त्रविहित अनुष्ठान का विनाश होने पर अथवा परमागम के अर्थ के नष्ट होने पर सत्पुरूषों को पूछने के बिना भी उसके स्वरूप को प्रकाशित करने वाला सम्भाषण करना ही चाहिये।।545।।

मन्ये पुरजलावर्तप्रतिमं तन्मुखोदरम्।
यतो वाचः प्रवर्तन्ते कश्मलाः कार्यनिष्फलाः।।

जिस मुख के मध्य से मोह को उत्पन्न करने वाले निरर्थक वचन प्रवृत्त होते हैं उस मुख के मध्य को मैं नगर की नाली के समान मानता हूँ।।548।।

सब लोगों को आनन्दप्रद, यथार्थ, प्रसन्न और सुन्दर वर्णों से निष्पन्न हुए वाक्य के विद्यमान रहने पर भी निकृष्ट मनुष्य कठोर वचन क्यों बोलते हैं?।।552।।

यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नो वा चीवरावृतः।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि।।

जो तपस्वी हो, जटाओं को धारण करता हो, शिर के मुण्डन से संयुक्त हो, वस्त्र से रहित हो, अथवा वस्त्र से सहित हो, वह यदि असत्य वचन बोलता है तो उसे चाण्डाल से भी निन्दनीय समझना चाहिये।।561।।

स्त्री स्वतन्त्रता को प्राप्त होकर अकेली ही मनुष्य के जिस अनर्थ को करती है उसे क्रोध को प्राप्त हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं कर सकते।।655।।

ब्रह्मा ने मनुष्यों को खण्डित करने के लिये शूल जैसी, छेदने के लिये तलवार जैसी, काटने के लिये आरी जैसी तथा पेलने के लिये कोल्हू जैसी स्त्रियों को रचा है।।684।।

व्याघ्र, सर्प अथवा पिशाचों के साथ एक स्थान पर रहना अच्छा है।

परन्तु स्त्रियों के साथ एक स्थान पर क्षणभर भी रहना निन्दनीय है-अच्छा नहीं है।।755।।

जिसकी आत्मा सत्समागमरूप अमृत के प्रवाह से निरन्तर आर्द-गीली की गई है, उन मनुष्यों की विषय-तृष्णा भोगों के सुलभ होने पर भी शान्त हो जाती है।।790।।

सत्पुरूषों की संगति महान् कल्पवृक्ष के समान मनवांछित समस्त फलों के प्राप्त कराने में समर्थ है।।807।।

जिसको पा करके स्वप्न में भी दुर्बुद्धि उदित नहीं होती, वह साधुजनों के उपदेश का एक अक्षर भी मुक्ति की प्राप्ति का कारण होता है।।808।।

परिग्रही की संगति को प्राप्त होकर यहाँ प्राणियों के गुण तो अणुप्रमाण भी नहीं रहते, परन्तु दोष सुमेरूपर्वत के समान विशाल हो जाते हैं।।828।।

जो मनुष्य परिग्रहरूप कीचड़ में फंसकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करता है वह मूर्ख फूलों के बाणों से मानों सुमेरू पर्वत को खण्डित करता है।।838।।

कदाचित् सूर्य अपने तेज को भले छोड़ दे अथवा मेरू पर्वत अपनी स्थिरता को भी भले छोड़ दे, परन्तु परिग्रह से व्याप्त मुनि कभी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है।।845।।

जो बाह्य धन-धान्यादिकरूप परिग्रह को ही नहीं छोड़ सकता, वह नपुंसक भविष्य में कर्म की सेना को कैसे नष्ट करेगा?।।846।।

पण्डित जनों ने धन को कामदेव रूप सर्पराज की बांबी, राग-द्वेषादि का स्थान तथा अविद्याओं का क्रीड़ाग्रह बताया है।।847।।

धन की तृष्णा से मलिन किया गया जीव जिस प्रबल कर्म को बांधता है, उसकी शान्ति क्लेश का अनुभव करते हुए करोड़ों जन्मों में कदाचित् ही हो पाती है।।851।।

जिस प्रकार यहां मांस से संयुक्त पक्षी को अन्य पक्षी घेरकर पीड़ा

पहुँचाते हैं, उसी प्रकार धनवान मनुष्य को अपने कुटुम्बीजन भी घेरकर पीड़ा पहुँचाया करते हैं।।856।।

जिसका अन्तःकरण नैराश्यरूप अमृत के प्रवाह से पवित्र हो चुका है उसका शान्तिरूप लक्ष्मी मित्रता में बद्ध होकर उत्कण्ठापूर्वक आलिंगन किया करती।।876।।

जिनका मन दुर्लंघ्य आशारूप कीचड़ में निमग्न नहीं होता, उन्हीं का ज्ञानरूप वृक्ष इस लोक में फलशाली होता है।।877।।

अज्ञानी बहिरात्मा बाह्य में ग्रहण व त्याग को करता है और तत्त्व का वेत्ता अन्तरात्मा अभ्यन्तर ग्रहण व त्याग को करता है। परन्तु शुद्धात्मा न तो बाह्य में ग्रहण व त्याग को किसी प्रकार से करता है और न अभ्यन्तर में भी।।1572।।

निर्णीतेऽस्मिन् स्वयं साक्षान्नापरः कोऽपि मृग्यते।
यतो रत्नत्रयस्यैष प्रसूतेर्वीजमग्रिमम्।।

प्रत्यक्ष मैं स्वयं ही उस रत्नत्रय स्वरूप आत्मा का निश्चय हो जाने पर फिर अन्य किसी की भी खोज नहीं की जाती है। कारण यह कि रत्नत्रय की उत्पत्ति का मुख्य स्थान यह आत्मा ही है।।913।।

एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम्।
अतोऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः।।

यही (आत्मा) निश्चय से उत्कृष्ट तत्त्व है और वही शाश्वत ज्ञान है, इसके अतिरिक्त अन्य जो श्रुतस्कन्ध–आगमसमूह अथवा आगमरूप वृक्ष का स्कन्ध है– उसका विस्तार इस उत्कृष्ट तत्त्व के जानने के लिये ही किया गया है।।918।।

या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है–स्वपर भेद सम्बन्धी अज्ञान है–उसमें योगी जागता है तथा अन्य प्राणी जिस रात में जागते हैं–जिस विषयानुराग में प्रतिबुद्ध रहते हैं – वह आत्मस्वरूप को देखने वाले मुनि के लिये रात्रि है–वह उसमें सदा अप्रतिबुद्ध रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मावबोध का न होना रात्रि के समान तथा उसका होना दिन के समान है।।924।।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं।
ये लीलां परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम्।।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिंपुन-
ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः।

जो प्रतिदिन केवल वचनों के द्वारा ही परमात्मा की लीला का विस्तार करते हैं वे बुद्धिशाली क्या चिरकाल तक असंख्यात नहीं दिखते हैं? अवश्य दिखते हैं। परन्तु जो शाश्वतिक एवं उत्कृष्ट आनन्द के समुद्रस्वरूप उस परमात्मा का स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करके संसार परिभ्रमण का परित्याग करते हैं–मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे ही प्रशंसनीय है और वे अत्यन्त दुर्लभ हैं।।926।।

यदि मेरा भी मन इन क्रोधादि कषायों के द्वारा ठगा जाता है, अर्थात् वस्तुस्वरूप को जानते हुए भी यदि मैं क्रोधादि कषायों के वशीभूत होता हूँ तो फिर अतत्त्वज्ञ और तत्त्वज्ञ इन दोनों में भला भेद ही क्या रहेगा? कुछ भी नहीं।।947।।

यदि वचनरूप कांटों से विद्ध होकर मैं क्षमा का आश्रय नहीं लेता हूँ–क्रोध को प्राप्त होता हूँ–तो फिर मुझमें इस गाली देने वाले की अपेक्षा विशेषता ही क्या रहेगी? कुछ भी नहीं–मैं भी उसी के समान हो जाऊंगा।।952।।

यदि मैं इस समय शान्ति की मर्यादा को लांघकर शत्रु के ऊपर क्रोध करता हूँ तो फिर मेरे इस ज्ञानरूप नेत्र का उपयोग कब हो सकता है।।955।।

प्रतिकूलता के उत्पन्न होने पर जिस धैर्य का अवलम्बन लिया जाता है वह धैर्य ही प्रशंसनीय माना जाता है। अन्यथा प्रतिकूल सामग्री के अभाव में तो-सब ही मनुष्य शान्त रहकर सत्य, शौच एवं क्षमा का आश्रय लिया करते हैं।।966।।

यदि लोक में सम्यग्ज्ञान और विवेक से शून्य मन वाले, पापी, गुणों में द्वेष करने वाले; प्रशम, सत्य व सिद्धान्तसूत्र से पराङ्मुख; प्रयोजन के बिना भी शत्रुता पूर्ण व्यवहार करने वाले और दुर्जनता आदि से दूषित मनुष्य न होते तो फिर उत्कृष्ट बुद्धि के धारक भव्य जीव घोर तपश्चरण के द्वारा मुक्तिरूप लक्ष्मी की इच्छा ही क्यों करते ? नहीं करते।।973।।

जो मनुष्य यद्यपि इच्छा के अनुसार शाक से भी अपने उदर को पूर्ण करने के लिये समर्थ नहीं होते, वे भी लोभ के वश चक्रवर्ती की लक्ष्मी की इच्छा किया करते हैं।।1004।।

प्राणी का मन निराकुल होकर जिस प्रकार विषयों में मग्न होता है उस प्रकार यदि वह आत्मा के स्वरूप मैं निमग्न होता तो फिर शीघ्र ही कौन न मुक्त हो जाता? अर्थात् सभी शीघ्र मुक्त हो सकते थे।।1024।।

वह जीव जिस प्रकार निरन्तर काम और अर्थ-धन की इच्छा करता हुआ यहाँ खेद का प्राप्त होता है उस प्रकार यदि वह आत्मप्रयोजन के सिद्ध करने में प्रयत्नशील होकर खेद को प्राप्त होता तो क्या मुक्ति को प्राप्त न हो जाता? अवश्य हो जाता।।1070।।

ध्यान का प्रधान कारण यह चतुष्टय है-1. गुरू का उपदेश, 2. उपदेश पर भक्ति, 3. सतत् चिन्तन और 4. मन की स्थिरता।।1072।।

जो स्वतन्त्रता से प्रवृत्ति करने वाले उस एक चित्त के जीतने में समर्थ नहीं है, परन्तु ध्यान की बात करता है; वह मूर्ख इस लोक में लज्जा को प्राप्त क्यों नहीं होता?।।1095।।

जिस मुनि का मन वश में नहीं हुआ है उसका तप, शास्त्राभ्यास, संयम, ज्ञान और कायक्लेश आदि का आश्रय लेना तुषखण्डन के समान धान्य के कणों से रहित कोरे भूसे के समान व्यर्थ ही है।।1099।।

जो योगी साम्यभाव का आश्रय ले चुका है उसको समस्त जगत उन्मत्त (पागल), विपरीतता को प्राप्त, दिशा को भूला हुआ अथवा सोया हुआ जैसा प्रतिभाषित होता है।।1177।।

जितेन्द्रिय योगी जब इन भावनाओं के साथ निरन्तर समस्त लोक का चिन्तन करता है तब वह उदासीनता को प्राप्त होकर राग-द्वेष से मुक्त होता हुआ यहाँ ही सिद्ध के समान आचरण करता है-मुक्ति उसके निकट आ जाती है।।1285।।

ध्यान की सिद्धि-सिद्धक्षेत्र में, ऋषि-महर्षि आदि किन्हीं पुरातन पुरूषों से अधिष्ठित अन्य उत्तम तीर्थ में और तीर्थंकर के गर्भ-जन्मादि कल्याणकों से सम्बद्ध पवित्र क्षेत्र में होती है।।1302।।

संयम का साधक योगी, संसार भ्रमण को शान्त करने के लिये समुद्र के समीप में, वन के अन्त में, पर्वतशिखरों के मध्य में, नदी आदि के तट पर, पद्मसमूह के अन्त में, पर्वत के शिखर पर या गुफा में, वृक्षों से संकीर्ण स्थान में, नदियों के संयोगस्थान में, द्वीप में, अतिशय शान्त वृक्ष के कोटर में, पुराने बगीचे में, शमशान में, सिद्धकूट पर, कृत्रिम व अकृत्रिम जिनालय में, जहाँ पर किसी महाऋद्धि के धारक व अतिशय पराक्रमी योगी का अभीष्ट सिद्ध हुआ हो, जो स्थान मन की प्रसन्नता देने वाला, प्रशस्त, भय व कोलाहल से रहित, सब ही ऋतुओं में सुखदायक, रमणीय, उपद्रव से रहित हो, सूने घर, गांव, भूगर्भ, केला के स्तम्भों से निर्मित गृह में, नगर व उपवन की वेदिका के समीप में, लतागृह में, चैत्यवृक्ष के नीचे तथा वर्षा, घाम व शीत आदि वायु के संचार व मूसलाधार वृष्टि से रहित स्थान में निरन्तर जागता है सदा ही विघ्न बाधाओं से रहित ध्यान को करता है।।1303-7।।

किं च कैश्चिचच्च धर्मस्यं चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोगेन हेतुना।।

कितने ही आचार्यों ने यथायोग्य निमित्त से सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त तक चार गुणस्थानवर्ती जीवों को धर्मध्यान के स्वामी माना है।।1329।।

परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः।
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसै ।।
अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये।।
मम शक्त्या गुणग्रामं व्यक्त्या च परमेष्ठिनः।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः।।

स्वभाव से परमात्मा, उत्कृष्ट ज्ञानरूप ज्योति से संयुक्त तथा संसार में श्रेष्ठ होकर भी मैं केवल प्रारम्भ में रमणीय प्रतीत होने वाले, परन्तु अन्त में नीरस स्वभाव वाले परिणाम में दुखदायक–उन विषयों से ठगा गया हूँ।

मैं और परमात्मा–ये दोनों ही ज्ञानरूप नेत्र से सहित हैं। इसीलिये मैं उस परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उसे जानने की इच्छा करता हूँ।

मुझमें ज्ञानादि गुणों का समुदाय शक्ति के रूप में अवस्थित है तथा परमात्मा में वह व्यक्तरूप से अवस्थित है, बस; शक्ति और व्यक्ति रूप स्वभाव से हम दोनों में इतना ही भेद है।।1477 से 1479।।

मैं अनन्त वीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त सुख स्वरूप होकर भी क्या आज शत्रुभूत उस कर्मरूप विषविक्ष को निर्मूल नहीं कर सकता हूँ।।1483।।

मुझे अनादि काल से उत्पन्न हुई अविद्यारूप शत्रु की फांस को काटकर आज ही यथार्थ में आत्मस्वरूप का निश्चय करना है।।1485।।

जो आत्मस्वरूप को नहीं जानता वह कभी परमात्मा को नहीं जान

सकता है। इसलिये इस परमात्मा को जानने के लिये पहले अपने आत्मस्वरूप का निश्चय करना चाहिये।।1513।।

मैं दूसरे विद्वानों के द्वारा प्रतिबोधित किया जाता हूँ तथा मैं अन्य जनों को प्रतिबोधित करता हूँ, इस प्रकार का जो विकल्प होता है वह विपरीत बुद्धि का स्थान है-अज्ञानता से परिपूर्ण है। इसका कारण यह है कि मैं यथार्थतः इस बोध्य-बोधक भाव की कल्पना से रहित हूँ।।1538।।

जिसके स्वरूप का बोध न होने पर मैं सोया था, तथा अब जिसका बोध हो जाने पर मैं उठ गया हूँ-वह स्व-स्वरूप मैं, अतीन्द्रिय होकर केवल स्वसंवेदन से ही गम्य हूँ।।1543।।

इतः प्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम्।
ममाद्य ज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत्।।

आज जब मुझे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुका है, तब इस समय से लेकर पूर्व में मैंने जो भी प्रवृत्ति की है वह सब मुझे स्वप्न अथवा इन्द्रजाल के समान प्रतीत हो रही है।।1546।।

विशिष्ट ज्ञानरूप दीपक के द्वारा समस्त विश्व का अवलोकन करने वाले ऐसे मेरे रहते हुए यह बेचारा दीन प्राणी संसाररूप कीचड़ में क्यों निमग्न हो रहा है?।।1552।।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।
वासना दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम्।।

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम्।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्द मन्दिरम्।।

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः।।

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येत तु नाप्यहम्।।
आकृष्य गोचर व्याघ्रमुखादात्मानमात्मना।
स्वस्मिन्नहं स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम्।।

मैं वही परमात्मा हूँ, मैं वही परमात्मा हूँ, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने वाला योगी उस संस्कार को दृढ़ ही करता है, जिससे वह अपने ही आत्मस्वरूप में अवस्थान को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानी के लिये जो-जो (इन्द्रियादि विषय) प्रीति के लिये होता है वही-वही दुख का स्थान है तथा जिस संयम व तप आदि के विषय में वह भयभीत होता है वही वस्तुतः आनन्द का स्थान है।

इन्द्रिय समूह के नियन्त्रित कर लेने से अन्तरात्मा के प्रसन्न हो जाने पर जो क्षणभर के लिये निजस्वरूप प्रतिभासित होता है वही स्वरूप परमात्मा का है।

जो सिद्धपरमात्मा है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह सिद्ध परमात्मा है। न मेरे द्वारा मुझसे भिन्न दूसरा कोई आराधनीय है और न मैं ही मुझसे भिन्न दूसरे के द्वारा आराधनीय हूँ। तात्पर्य यह है कि यथार्थ में मैं स्वयं परमात्मा हूँ, इसलिये मैं ही उपास्य और मैं ही उपासक हूँ-निश्चय से उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

मैं अपने आपको अपने ही द्वारा इन्द्रियविषयरूप व्याघ्र के मुख से खींचकर चिदानन्द स्वरूप अपने आपमें ही स्वयं स्थिर हो गया हूँ।।1554 से 1558।।

जिस तत्त्व के आश्रय से भ्रम को अतिशय निर्मूल करके आत्मा का आत्मा में अवस्थान होता है उसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, उसी का व्याख्यान करना चाहिये, उसी का आराधन करना चाहिये और उसी का चिन्तवन करना चाहिये।।1578।।

जड़बुद्धि-आत्मा के स्वरूप को समझाने पर भी वह नहीं कहे हुए के समान उसे स्वीकार ही नहीं करता है। इस कारण उसके विषय में मेरा प्रयत्न करना व्यर्थ है।।1580।।

जो कुछ में ज्ञापित क़रना चाहता हूँ-जिस आत्मा स्वरूप का मैं दूसरे के लिये ज्ञान कराना चाहता हूँ-वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह पर के द्वारा ग्राह्य नहीं है-वह मेरे द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है, पर के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। इसलिये दूसरे को प्रबोधित करने का मेरा प्रयत्न व्यर्थ है।।1581।।

आत्मा का अपने में अपने ही द्वारा शरीर से भिन्न इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि जिस प्रकार से यह आत्मा स्वप्न में भी उस शरीर के साथ फिर से संयोग को प्राप्त न हो सके-उसका उस शरीर से सम्बन्ध ही सर्वथा छूट जाये।।1598।।

चूँकि व्रत और अव्रत ये दोनों क्रम से जीवों के पुण्य और पाप के कारण हैं तथा उन दोनों का अभाव ही मोक्ष है; अतएव मोक्षाभिलाषी प्राणी को उन दोनों का-व्रत और अव्रत का भी अभाव करना चाहिये।।1599।।

यह संसार चक्र स्त्रियों के आधार से चलता है।

शरीर में आत्मा को देखने वाला बहिरात्मा चाहे वह जागता हो, चाहे पढ़ता हो-आगम का अभ्यासी भी हो तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता है। परन्तु जिस अन्तरात्मा को शरीर से भिन्न अपने में ही आत्मा का निश्चय उत्पन्न हो चुका है, वह यदि सोया हुआ या उन्मादयुक्त हो तो भी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।।

जीव सिद्धात्मा की आराधना करके स्वयं अपने को भी सिद्धात्मा बना लेता है, जिस प्रकार बत्ती दीपक को पाकर स्वयं भी दीपक स्वरूप बन जाती है।

जिस प्रकार वृक्ष अपना अपने साथ घर्षण करके अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार जीव अपना ही आराधन करके परमात्मा बन जाता है।।1605 से 1607।।

जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये शरीरादि के विनाश से आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी शरीरादि के विनाश के देखे जाने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता-ऐसा समझना चाहिये।।1610।।

जो आगमरूप समुद्र का जल सरस्वती देवी के कुलग्रह के समान, विद्वज्जनों के आनन्द को वृद्धिंगत करने के लिये अनुपम चन्द्रोदय, मुक्ति का मुख्य मंगल, मोक्षमार्ग में प्रयाण की सूचना के लिये दिव्य भेरी जैसा, कुतत्त्वरूप हरिणों को नष्ट करने के लिये सिंह समान तथा भव्य जीवों को विनयशील बनाने में समर्थ है। उसका गुणीजन कर्णरूपी अंजुलियों के द्वारा पान करें।।1637।।

अब भी यदि मैं वैराग्य व विवेकरूप महापर्वत के शिखर से गिरता हूँ तो फिर संसाररूप अन्धकार युक्त कुएं के भीतर मेरा गिरना अनिवार्य ही है-उसे कोई रोक नहीं सकता है।।1644।।

पदार्थों का स्वरूप जैसा परमागम में कहा गया है, मैं उनका अनुभव उसी स्वरूप से कर रहा हूँ। इसलिये मैं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो चुका हूँ, अब मुझे मोक्षपद प्राप्त हुआ सा ही प्रतीत होता है।।1655।।

नारकी जीवों का पश्चाताप-

मनुष्य पर्याय को पा करके जब मैं स्वतन्त्र था तब तो मैंने अपना हित किया नहीं। अब आज जब मैं यहाँ दैव और पुरुषार्थ दोनों से ही वंचित हूँ तब भला क्या अपना हित कर सकूंगा? कुछ भी नहीं।।1729।।

मैंने जो नगर, गांव और पर्वत आदि में आग लगाई है तथा जल, स्थल, विल और आकाश में संचार करने वाले प्राणियों का घात किया है, उन सब दुष्टतापूर्ण कृत्यों का जब स्मरण करता हूँ तब से सब पूर्व के कृत्य करोंत के समान निर्दयता पूर्वक मेरे मर्मों का छेदन करते हैं।।1731-1732।।

दैव से ठगा गया मैं दीन प्राणी अब यहाँ पूर्व संचित कर्मसमूह के सामने उपस्थित होने पर क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और किसकी शरण देखूँ।

जिस दुख का क्षणभर भी स्मरण करना, देखना और सुनना भी शक्य नहीं है उस दुख को मैं यहाँ समुद्र के प्रमाण से अपरिमित रूप में कैसे-सह सकूंगा? ।।1733-1734।।

जिन भृत्यादिकों के लिये मैंने अपने को ही नष्ट करने वाले महान् संकट में डालने वाले-कार्य को किया है, उनमें यहाँ न वे भृत्य दिखते हैं, न पुत्र दिखते हैं और न बन्धु भी दिखते हैं। स्त्रियां, मित्र और निर्लज्ज होकर मुझे पाप की ओर प्रेरित करने वाले अन्य जन भी इस समय मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये हैं।।1737-1738।।

जिस प्रकार पक्षी किसी फलयुक्त वृक्ष को देखकर पहले तो उसका आश्रय लेते हैं और जब उसके फल समाप्त हो जाते हैं तब फिर उसको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन भी जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है-तब तक रहते हैं और फिर उसकी सम्भावना न रहने पर छोड़कर चले जाते हैं-संचित पापकर्म का उदय आने पर प्राप्त हुए घोर दुख का सहभागी कोई भी नहीं होता है।।1739।।

मेरे द्वारा उपार्जित धन के फल का उपभोग करने वाले वे कुटुम्बीजन मुझे इस अचिन्त्य वेदना वाले अतिशय भयानक नरक में गिराकर अब इस समय कहां चले गये?।।1747।।

एष देवः सः सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात् स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते।।

यह देव (आत्मा) ही वह सर्वज्ञ है और वही मैं उस सर्वज्ञरूपता को प्राप्त हूँ। इसलिये वही सर्वज्ञ मैं हूँ, अन्य नहीं हूँ-ऐसा वह योगी मानता है।।2075।।

जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है, वैसे चित्त चैतन्य में विलीन होने पर जीव समरसी हो जाता है, समाधि में इसके सिवाय दूसरा क्या करना है?
- मुनिवर रामसिंह : पाहुड़ दोहा, गाथा-176

(14) पद्मनन्दि पंचविंशतिः

जब कि शय्या के निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण आदि भी मुनियों के लिये आर्त-रौद्र-स्वरूप दुर्ध्यान एवं पाप के कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थता को नष्ट करते हैं, तब फिर गृहस्थ के योग्य अन्य स्वर्ण आदि क्या उस निर्ग्रन्थता के घातक न होंगे? अवश्य होंगे। फिर यदि वर्तमान में निर्ग्रन्थ कहे जाने वाले मुनियों के भी उपर्युक्त गृहस्थ योग्य स्वर्ण आदि परिग्रह रहता है तो समझना चाहिये प्रायः कलिकाल का प्रवेश हो चुका है।।1-53।।

यदि परिग्रह युक्त जीवों का कल्याण हो सकता है तो अग्नि भी शीतल हो सकती है, यदि इन्द्रिय-जन्य सुख वास्तविक सुख हो सकता है तो तीव्र विष भी अमृत बन सकता है, यदि शरीर स्थिर रह सकता है तो आकाश में उदित होने वाली बिजली उससे भी अधिक स्थिर हो सकती है तथा इस संसार में यदि रमणीयता हो सकती है तो वह इन्द्रजाल में भी हो सकती है।।1-56।।

लोक में मिथ्यात्व आदि के निमित्त से जो तीव्र दुख प्राप्त होने वाला है उसकी अपेक्षा तप से उत्पन्न हुआ दुख इतना अल्प होता है जितनी कि समुद्र के सम्पूर्ण जल की अपेक्षा उसकी एक बूंद होती है।।1-100।।

काल के प्रभाव से जहां मोहरूप महान अन्धकार फैला हुआ है ऐसे इस लोक में मनुष्य उत्तम मार्ग नहीं देख पाता है। इसके अतिरिक्त नीच मिथ्यादृष्टि जन उसकी आँख में मिथ्या उपदेशरूप धूलि को भी फेंकते हैं। फिर भला ऐसी अवस्था में उसका गमन अनिश्चित खोटे मार्गों में कैसे नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा।।1-113।।

हत्यारा कामदेवरूपी घीवर उत्तम धर्मरूपी नदी से मनुष्यों रूप मछलियों को स्त्रीरूप कांटे के द्वारा निकालकर उन्हें अत्यंत जलने वाली अनुरागरूपी आग में पकाता है, यह बड़े खेद की बात है।।1-116।।

हम कहां जावें, क्या करें? यहां सुख कैसे प्राप्त हो सकता है और क्या होगा, लक्ष्मी कहां से प्राप्त हो सकती तथा इसके लिये कौन से सेवा की जाये; इत्यादि विकल्पों का समुदाय यहां तत्त्वज्ञ सज्जन पुरुषों के भी मन को जड़ बना देता है, यह शोचनीय है। यह सब मोह की महती लीला है।।1-122।।

हे पण्डितजन! धन, महल और शरीर आदि के विषय ममत्व बुद्धि को छोड़कर शीघ्रता से कुछ भी अपना ऐसा कार्य करो जिससे कि यह जन्म फिर से न प्राप्त करना पड़े। दूसरे सैकड़ों वचनों के समारम्भ से तुम्हारा कोई भी अभीष्ट सिद्ध होने वाला नहीं है। यह जो तुम्हें उत्तम मनुष्य पर्याय आदि स्वहित साधक सामग्री प्राप्त हुई है वह फिर से प्राप्त हो सकेगी अथवा नहीं हो सकेगी, यह कुछ निश्चित नहीं है।।1-123।।

नित्य आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा का विचार करने पर रस नीरस हो जाते हैं, परस्पर के संसाररूप कथा का कौतूहल नष्ट हो जाता है, विषय नष्ट हो जाते हैं, शरीर के विषय में भी प्रेम नहीं रहता, वचन भी मौन को धारण कर लेते हैं, तथा मन दोषों के साथ मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है।।1-154।।

संसारी प्राणियों को यह मनुष्य पर्याय 'अन्धक-वर्तकीयक' रूप जनाख्यान के न्याय से करोड़ों कल्पकालों में बड़े कष्ट से प्राप्त हुई है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धे मनुष्य के हाथों में वटेर पक्षी का आना दुर्लभ है, उसी प्रकार है इस मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अत्यन्त दुर्लभ है। फिर वह करोड़ों कल्पकालों में किसी प्रकार से प्राप्त भी हो गई तो वह मिथ्यादेव एवं मिथ्या गुरु के उपदेश, विषयानुराग और नीच कुल में उत्पत्ति आदि के द्वारा सहसा विफलता को प्राप्त हो जाती है।।1-167।।

हे दुर्बुद्धि प्राणी! यदि यहां जिस किसी भी प्रकार से तुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हो गया है तो फिर प्रसंग पाकर अपना कार्य कर ले। अन्यथा यदि तू मरकर किसी तिर्यञ्च पर्याय को प्राप्त हुआ तो फिर तुझे समझाने के लिये कौन समर्थ होगा?।।1-168।।

मेरी आयु लम्बी है, हाथ-पांव आदि सभी अंग अतिशय दृढ़ हैं, तथा यह लक्ष्मी भी मेरे वश में है फिर मैं व्यर्थ में व्याकुल क्यों होऊं? उत्तरकाल में जब वृद्धावस्था प्राप्त होगी तब मैं निश्चिन्त होकर अतिशय धर्म करूंगा। खेद है कि इस प्रकार विचार करते-करते यह मूर्ख प्राणी काल का ग्रास बन जाता है।।1-170।।

सज्जन पुरुष के लिये अपने पुत्र की मृत्यु का भी दिन उतना बाधक नहीं होता जितना कि मुनिदान से रहित दिन उसके लिये बाधक होता है ।।2-29।।

लोक में जिस कंजूस मनुष्य का शरीर भोग और दान से रहित ऐसे धनरूपी बन्धन से बंधा हुआ है उसके जीने का क्या प्रयोजन है? उसकी अपेक्षा तो वह कौआ ही अच्छा है जो उन्नत बहुत वचनों (कांव-कांव) के द्वारा अन्य कौओं को बुलाकर ही बलि (द्रव्य) को खाता है।।2-46।।

हे आत्मन्! तूने इच्छित लक्ष्मी को पा लिया है, समुद्र-पर्यन्त पृथिवी को भी भोग लिया है तथा जो विषय स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं उन अतिशय मनोहर विषयों को भी प्राप्त कर लिया है। फिर भी यदि पीछे मृत्यु आने वाली है तो यह सब विष से संयुक्त आहार के समान अत्यन्त रमणीय होने पर भी धिक्कारने योग्य ही है। इसलिये तू एकमात्र मुक्ति की खोज कर।।3-40।।

यह मनुष्य क्या बात रोगी है, क्या भूत-पिशाच आदि से गृहण किया गया है, क्या भ्रान्ति को प्राप्त हुआ है, अथवा वह पागल है? कारण कि वह 'जीवित आदि बिजली के समान चंचल है' इस बात को जानता है, देखता है, और सुनता भी है, तो भी अपने कार्य (आत्महित) को नहीं करता।।3-40।।

केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तसुखस्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है उसके जान लेने पर अन्य क्या नहीं जाना गया, उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देखा गया तथा उसके सुन लेने पर अन्य क्या नहीं सुना गया?।।4-20।।

इस कारण विद्वान मनुष्यों के द्वारा निश्चय से वही एक उत्कृष्ट आत्मतेज जानने के योग्य है, वही एक सुनने के योग्य है, तथा वही एक देखने के योग्य है; उससे भिन्न अन्य कुछ भी न जानने योग्य है, न सुनने योग्य है और न देखने के योग्य है ।।4-21।।

तत्प्रति प्रीति चित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम्।।

उस आत्मतेज के प्रति प्रीति चित्त से जिसने उसकी बात भी सुनी है वह निश्चय से भव्य है व भविष्य में प्राप्त होने वाली मुक्ति का पात्र है ।।4-23।।

प्रमाद से रहित हुए मुनि का वही एक आत्मज्योति आचार है, वही आत्मज्योति आवश्यक क्रिया है, तथा वही आत्मज्योति स्वाध्याय भी है ।।4-41।।

समस्त शास्त्ररूपी महासमुद्र का उत्कृष्ट रत्न वही एक आत्मज्योति है, तथा वही एक आत्मज्योति सब रमणीय पदार्थों में आगे स्थित अर्थात् श्रेष्ठ है ।।4-43।।

शान्त और बर्फ के समान शीतल वही आत्मज्योति संसाररूपी भयानक घाम (धूप) से निरन्तर सन्ताप को प्राप्त हुए प्राणी के लिये यन्त्र धारागृह (फुब्बारों से युक्त शीतल घर) के समान आनन्ददायक है ।।4-47।।

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षवः।।

मोह के उदय से उत्पन्न हुई मोक्ष प्राप्ति की भी अभिलाषा उस मोक्ष की प्राप्ति में रूकावट डालने वाली होती है, फिर भला शान्त मोक्षाभिलाषी जन दूसरी किस वस्तु की इच्छा करते हैं? अर्थात् किसी की भी नहीं करते ।।4-53।।

दान से रहित गृहस्थाश्रम को पत्थर की नाव के समान समझना चाहिये।

उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव पर बैठकर मनुष्य संसार रूपी समुद्र में डूबता ही है, इसमें सन्देह नहीं है।।6-35।।

विशेषार्थ-यदि निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव एक भी हो तो वह प्रशंसा के योग्य है। किन्तु मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त हुए प्राणी संख्या में यदि अधिक भी हो तो भी वे प्रशंसनीय नहीं है-निन्दनीय ही हैं। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव का पाप कर्म के उदय से वर्तमान में दुखी रहना भी उतना हानिकारक नहीं है, जितना कि मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्यकर्म के उदय से वर्तमान में सुख से स्थित रहना भी हानिकारक है।।7-2।।

जो भव्य जीव भक्ति से कुंदुरु के पत्ते के बराबर जिनालय तथा जौ के बराबर जिनप्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिये यहां वाणी भी समर्थ नहीं है। फिर जो भव्य जीव उन दोनों का ही निर्माण करता है उसके विषय में क्या कहा जाये?।।7-22।।

संसार में जो मूर्ख जन उत्तम आभ्यन्तर नेत्र से उस समीचीन सिद्धात्मारूप अद्वितीय तेज को नहीं देखते हैं वे ही यहां स्त्री एवं स्वर्ण आदि वस्तुओं को प्रिय मानते हैं। किन्तु जिनका हृदय उस सिद्धात्मारूप रस से परिपूर्ण हो चुका है उनके लिये समस्त साम्राज्य तृण के समान प्रतीत होता है, शरीर दूसरे का सा प्रतीत होता है, तथा भोग रोग के समान जान पड़ते हैं।।8-22।।

बाह्य शास्त्र गहने बिहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता।।

जो बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वन में घूमने वाली है, बहुत से विकल्पों को धारण करती है तथा चैतन्यरूपी कुलीन घर से निकल चुकी है, वह पतिव्रता के समान समीचीन नहीं है, किन्तु दुराचारिणी स्त्री के समान है।।10-38।।

जो जीव आत्मा को निरन्तर कर्म से बद्ध देखता है वह कर्मबद्ध ही

रहता है; किन्तु जो उसे मुक्त देखता है वह मुक्त हो जाता है। ठीक है–पथिक जिस नगर के मार्ग से जाता है उसी नगर को वह प्राप्त होता है।।11-48।।

यदि मेरे मन में समस्त इच्छाओं के अभावरूप अनुपम स्वरूप वाला उत्कृष्ट आत्मतत्त्व स्थित है तो फिर राजलक्ष्मी तृण के समान तुच्छ है। उसके विषय में तो क्या कहूँ? किन्तु मुझे तो तब इन्द्र की सम्पत्ति से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।।11-62।।

यद्यपि यौवन एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण स्त्रियों का शरीर आभूषणों से विभूषित है तो भी वह मूर्खजनों के लिये ही आनन्द को उत्पन्न करता है, न कि सज्जनों के लिये। ठीक है–बहुत से सड़े–गले मृत शरीरों से अतिशय व्याप्त शमशानभूमि को पाकर काले कौओं का समुदाय ही सन्तुष्ट होता है, न कि राजहंसों का समूह।।12-14।।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मेरा अन्तःकरण ऐसे उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण हो गया है कि जिससे मैं अपने को मुक्ति को प्राप्त हुआ ही समझता हूँ।।14-3।।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मुझे ऐसा उत्कृष्ट सन्तोष उत्पन्न हुआ है कि जिससे मेरे हृदय में इन्द्र का वैभव भी लेशमात्र तृष्णा को उत्पन्न नहीं करता है।।14-7।।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर शेष सब ही दिनों के मध्य में आज के दिन सफलता का पट्ट बांधा गया है।।14-11।।

यदि मेरे हृदय में नित्य आनन्दपद अर्थात् मोक्षपद को देने वाली गुरु की वाणी जागती है, तो मुनिजन स्नेह करने वाले भले ही न हों, गृहस्थ जन यदि भोजन नहीं देते हैं तो न दें, मेरे पास कुछ भी धन न हो, यह शरीर रोग से रहित न हो, तथा मुझे नग्न देखकर लोग निन्दा भी करें; तो भी मेरे लिये उसमें कुछ भी खेद नहीं होता।

स्निग्धा मा मुनयो भवन्तु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं।
मा किंचिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रूग्वर्जितम् जायताम्।।
नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तमापि खेदो न ये।
नित्यानन्दपदप्रदं गुरूवचो जागर्ति चेच्चेतसि।।

जब मैं मोक्ष विषयक उपदेश से बुद्धि की स्थिरता को प्राप्त कर लेता हूँ तब भले ही वर्षाकाल मेरे हर्ष को नष्ट करे, विस्तृत महान शैत्य शरीर को पीड़ित करे, घाम सुख का अपहरण करे, डांस-मच्छर क्लेश के कारण होवें, अथवा और भी बहुत से परीषहरूप सुभट मेरे मरण को भी प्रारम्भ कर दें, तो भी इनसे मुझे कुछ भी भय नहीं है।।23-13।।

जायन्ते बिरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
मौनं च प्रतिभासतेऽपि च रहः प्रायो मुमुक्षोश्चितः,
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम्।।

चैतन्य स्वरूप आत्मा के चिन्तन से मुमुक्षुजन के रस नीरस हो जाते है, सम्मिलित होकर परस्पर चलने वाली कथाओं का कौतूहल नष्ट हो जाता है, इन्द्रिय विषय विलीन हो जाते हैं, शरीर के भी विषय में प्रेम का अन्त हो जाता है, एकान्त में मौन प्रतिभाष्रित होता है, तथा वैसी अवस्था में दोषों के साथ मन भी मरने की इच्छा करता है।।23-19।।

चित्त में पूर्व के करोड़ों भवों में संचित हुए पाप कर्मरूप धूलि के सम्बन्ध से प्रगट होने वाले मिथ्यात्व आदि रूप मल को नष्ट करने वाली जो विवेक बुद्धि उत्पन्न होती है वही वास्तव में साधुजनों का स्नान है।।25-3।।

> हे भव्य! जब स्फटिक मणि की जिनमूर्ति के समान अन्तर में अपने शुद्धात्मा को तू भायेगा तब कर्मजाल स्वयमेव क्षण में ही कट जायेंगे और आत्मभावों में तू परिशुद्ध हो जायेगा। - श्री नेमिश्वर वचनामृत

(15) सुभाषित रत्न संदोह

श्रुति (शास्त्रज्ञान), बुद्धि, बल, वीर्य, प्रेम, सुन्दरता, आयु, शरीर, कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री, भाई और पिता आदि सब ही चालनी में स्थित पानी के समान अस्थिर है-देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं। इस बात को प्राणी देखता है, तो भी खेद की बात है कि वह मोहवश आत्मकल्याण को नहीं करता।।1-18।।

जो प्राणी लोभ के वश होकर धन को प्राप्त करना चाहता है वह यदि पुण्यहीन है तो, प्रथम तो उसे वह धन इच्छानुसार प्राप्त ही नहीं होता, फिर यदि वह प्राप्त भी हो गया तो उसके पास स्थिर नहीं रहता, और यदि स्थिर भी रह गया तो वह चिन्ता या रोगादिक से सहित होने के कारण उसको सुख देने वाला नहीं होता, ऐसा विचार करके निर्मल बुद्धि मनुष्य उस लोभ को विस्तृत नहीं करते।।4-16।।

प्राणों के संहारक विष का भक्षण करना अच्छा है, व्याघ्रादि हिंसक जीवों से व्याप्त वन में रहना अच्छा है, तथा अग्नि की ज्वाला में प्रवेश करना भी अच्छा है; परन्तु मनुष्य का मिथ्यात्व के साथ जीवित रहना अच्छा नहीं है।।7-13।।

वरं निवासो नरकेऽपि देहिनां विशुद्धसम्यक्त्व विभूषितात्मनाम्।
दुरन्त मिथ्यात्व विषोपभोगिनां न देवलोके वसतिर्विराजते।।

अपनी आत्मा को निर्मल सम्यग्दर्शन से विभूषित करके प्राणियों का नरक में रहना अच्छा है, परन्तु कठिनता से नष्ट होने वाले मिथ्यात्वरूप विष का उपभोग करते हुए स्वर्ग में रहना भी अच्छा नहीं है।।7-41।।

जो ज्ञान से शून्य होता है वह कोरा पशु ही होता है, क्योंकि जैसे पशु धर्म-अर्थ-काम पुरूषार्थ सम्बन्धी व्यवहारों को नहीं जानता, वैसे ही वह भी उनसे अनभिज्ञ रहता है, उनके विषय में यथेच्छ प्रवृत्ति करता है। पशु के

समान ही उसकी समस्त विचारशील बुद्धि नष्ट हो जाती है, और वह दिन-रात पशु की तरह ही खाने-पीने में लगा रहता है। उसे भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक भी नहीं रहता।।8-17।।

वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं वरं प्रविष्टं ज्वलनेऽतिरौद्रे।
वरं कृतान्ताय निवेदितं स्वं न जीवितं तत्त्वविवेकमुक्तम्।।

ज्ञान प्राप्ति के लिये कितने भी संकट आयें, कदाचित् भयंकर हलाहल विष खाने का भी प्रसंग आवे तो अच्छा अथवा भयंकर अतिरूद्र अटवी में प्रवेश करने का भी प्रसंग आवे तो अच्छा, अग्नि में जलकर भस्मसात हो जाना अच्छा, अथवा अन्त में अन्य भी किसी कारण से यमराज की गोद में चला जाना अच्छा, परन्तु तत्त्वज्ञान से रहित होकर जीना इस संसार में अच्छा नहीं है। ज्ञानहीन जीवन इन भयंकर दुखों से भी महान दुख है।।8-24।।

जिनका जीवन चारित्र से हीन-रहित है, उसका इस लोक में जन्म लेकर माता के गर्भ में ही विलीन हो जाना अच्छा है अथवा जन्म लेकर प्रसूतिकाल में ही मर जाना अच्छा है अथवा उस शरीरधारी जीव का उत्पन्न न होना ही अच्छा है, परन्तु चारित्र रहित जीवन जीना निरर्थक है।।9-31।।

विधि-दैव-भाग्य भुजंग के समान टेढ़ा चलता है। कभी वैभव के शिखर पर चढ़ाता है तो कभी विपत्ति की खाई में गिराता है। आज श्रीमंत है तो कल दरिद्री बनकर घूमता है। जीवन पवनवेग की तरह चंचल है। धन कमाने में कष्ट, उसकी रक्षा में कष्ट, अंत में किसी कारण से धन का वियोग होता है तब इस जीव को महान कष्ट होता है। यौवन शीघ्र ही नष्टप्राय होता है, तथापि यह जीव संसार की नानाविध संकट परम्परा से भयभीत नहीं होता, यह महान आश्चर्य है।

यद्यपि इस संसार में जीवों को जो संपत्ति मिलती है वह विपत्तियों से सहित होती है। सुख के अनंतर दुख अपना स्थान जमाता है। सज्जनों की संगति वियोगरूपी विषदोष से दूषित है। शरीर रोग रूपी सर्प का बिल है।

जन्म मरण से सहित है। तो भी जिसकी बुद्धि जिसका विवेक नष्ट हुआ है ऐसा यह जीव निरन्तर इस दुखमय संसार में ही अनुरक्त होता है, संसार सुख में ही आशक्त होता है, यह बड़ा आश्चर्य है।।10-19-20।।

जिनको भाग्यवश धन मिलता है वे आनंद से हंसते है, देववश जिनका धन चला जाता है वे शोकाकुल होकर रोते हैं। जिनको कुछ बुद्धि-क्षयोपशम प्राप्त है वे शास्त्र पढ़ते हैं। जिनको बुद्धि-क्षयोपशम नहीं वे निरन्तर प्रमाद में-नींद लेने में जीवन को खोते। जो मुनिश्रेष्ठ संसार से विरक्त होते हैं वे तपोवन में जाकर तप करते हैं, आत्मसाधना करते हैं। जो विषयों के अनुरागी हैं वे पंचेन्द्रिय विषयों में ही रमते हैं। इस प्रकार यह जीव इस संसाररूपी रंगभूमि पर नट के समान विविध क्रिया करता रहता है।।10-23।।

पुरुष को जरारूपी स्त्री में आसक्त देखकर रोष से द्युति-कांति, गति, धृति, प्रज्ञा, बुद्धि, लक्ष्मी-वैभव इत्यादि सब स्त्रियां उस वृद्ध पुरुष को छोड़कर चली जाती हैं, परन्तु तृष्णा रूपी स्त्री नहीं जाती। ठीक है-अपने प्रिय पति को अपराधी देखकर भी कौन पतिव्रता स्त्री उसको छोड़ सकती है।। 11-23।।

जिन माता-पिता आदि से हमारा जन्म हुआ वे सब मरण को प्राप्त हो गये। जिन मित्र बन्धु-बान्धवों के साथ खेल-कूदकर हम बड़े हुए उन सबने भी आंखें फेर लीं-वे सब भी काल के गाल में समा गये। अब इस क्रम-परिपाटी में हमारे मरण का समय आया है-ऐसा जानते-देखते हुए भी मूढ़ प्राणी विषयों से विरक्त नहीं होता।।13-19।।

यह अज्ञप्राणी अमुक मर गया, अमुक मरणोन्मुख है और अमुक भी निश्चय ही मरेगा, इस प्रकार नित्य ही दूसरों की गणना तो किया करता है, किन्तु शरीर, धन, स्त्री आदि वैभव में महामोह से ग्रस्त हुआ मूर्ख मनुष्य अपने पास आई मृत्यु को भी नहीं देखता।।13-20।।

धन-धान्य और खजाना ये सब भाग्य के अनुकूल होने पर ही जीव को सुखदायक होते हैं। यह जानकर ज्ञानी को खेद नहीं करना चाहिये।।14-24।।

यदि यह पेटरूपी पिटारी प्राणियों के मान को नष्ट करने वाली न होती तो कौन अपना मान खोकर किसके सामने दीन-वचन बोलता? ।।15-7।।

यहाँ निन्दित दुर्जन संगति प्राणियों के जिस दोष को करती है उसको करने के लिये न भूख से पीड़ित व्याघ्र समर्थ है, न क्रोध को प्राप्त हुआ आशीविष सर्प समर्थ है, न बल वीर्य एवं बुद्धि से सम्पन्न शत्रु समर्थ है, न उन्मत्त हाथी समर्थ है, न राजा समर्थ है और न उद्धत सिंह भी समर्थ है।।17-2।।

व्याघ्र दुष्ट हाथी और सर्पों के संयोग के भय को उत्पन्न करने वाले वन में रहना अच्छा है, प्रलयकालीन वायु से उठती हुई भयानक तरंगों से व्याप्त समुद्र में डूब जाना अच्छा है और समस्त संसार को जलाने वाली ज्वालायुक्त अग्नि की शरण में जाना कहीं अच्छा है; परन्तु तीनों लोक के बीच में रहने वाले समस्त दोषों के जनक दुर्जनों के मध्य में रहना अच्छा नहीं है।।17-3।।

जो दुर्जन कुत्ते के बच्चे के समान दूसरों के प्रति भोंकने में उद्यत रहता है, सर्प के समान छिद्र को ढूंढता है, परमाणु के समान अग्राह्य है, मृदंग के समान दो मुखों से सहित है, गिरगिट के समान अनेक रूपवाला है तथा सर्पराज के समान कुटिल है, वह अनेक दोषों का स्थानभूत दुर्जन किसके चित्त को दुखी नहीं करता है? सभी के मन को खिन्न करता है।।17-10।।

कदाचित् सूर्य शीतल हो जाये, चन्द्रमा उष्ण हो जाये, गाय के सींग से दूध निकलने लग जाये, विष अमृत हो जाये, अमृत से विष वेल उत्पन्न हो जाये, अंगार से श्वेतता आविर्भूत हो जाये, अग्नि से जल प्रगट हो जाये, जल से अग्नि उत्पन्न हो जाये और कदाचित् नीम से स्वादिष्ट रस प्रगट हो जाये; परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्जन से कभी सज्जन पुरूषों को प्रशस्त वाक्य उपलब्ध नहीं हो सकता है।।17-17।।

जिस प्रकार कौवे हाथी के मुक्तासमूह को छोड़कर माँस को ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार मक्खियाँ चन्दन को छोड़कर दुर्गन्धयुक्त सड़े-गले पदार्थ पर जाती हैं व वहाँ नाश को प्राप्त होती हैं, तथा जिस प्रकार कुत्ता

मनोहर एवं स्वादिष्ट अनेक प्रकार के भोजन को छोड़कर मल का भक्षण करता है, उसी प्रकार दुष्टजन गुण को छोड़कर निरन्तर दोष को ग्रहण करते हैं।।17-24।।

यहाँ लोक में सज्जन मनुष्य मुनि के समान शोभायमान होता है।। 18-9।।

जो चारित्र का परित्याग नहीं करते हैं, अन्य के दोष को नहीं कहते-परनिन्दा नहीं करते, सर्वनाश के होने पर भी न निर्धन मित्र से और न अन्य किसी दीन पुरूष से भी याचना करते हैं, हीन आचारवाले किसी नीच मनुष्य की सेवा नहीं करते हैं, अन्य का तिरस्कार नहीं करते हैं, तथा निर्दोष परिपाटी का उल्लंघन नहीं करते वे सज्जन होते हैं-यह सज्जन मनुष्य की पहिचान है।।18-15।।

जिस प्रकार चन्दन शरीर के अतिशय खण्डित किये जाने पर भी अपनी गन्ध को नहीं छोड़ता, उसे अधिक ही फैलाता है, जिस प्रकार ईख (गन्ना) कोल्हू यन्त्रों के द्वारा पीड़ित होता हुआ भी अपनी मधुरता को नहीं छोड़ता, तथा जिस प्रकार हितकारक स्वर्ण छेदा जाकर घिसा जाकर एवं अग्नि से सन्तप्त होकर भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता-उसे और अधिक उज्वल करता है, उसी प्रकार सज्जन मनुष्य दुष्ट जनों के द्वारा पीड़ित हो करके भी विपरीत स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।।18-20।।

यदि शोक करने पर मनुष्य पुण्य और शरीर सुख प्राप्त करता हो, मरा हुआ प्राणी जीवित होकर फिर से आ जाता हो, अथवा इसके मरने पर अपना मरण न होता हो; तो यहाँ पुरूष का शोक करना सफल हो सकता है। परन्तु वैसा नहीं होता इसलिये शोक करना व्यर्थ है।।29-17।।

मोक्षार्थी सज्जन के लिए 'आत्मा' ऐसे दो अक्षर ही बस हैं उसमें जो तन्मय होता है उसका मोक्ष सुख हथेली में है। *- श्री नेमिश्वर वचनामृत शतक-87*

(16) कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जो लक्ष्मी पुण्य के उदय वाले चक्रवर्तियों के भी नित्य नहीं है, वह पुण्यहीन अथवा अल्प पुण्य वाले अन्य लोगों से कैसे प्रेम करे? ।।10।।

यह लक्ष्मी कुलवान, धैर्यवान, पण्डित, सुभट, पूज्य, धर्मात्मा, रूपवान, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि किसी भी पुरूष से प्रेम नहीं करती है ।।11।।

जो पुरूष लक्ष्मी को संचय करके बहुत नीचे जमीन में गाड़ता है वह पुरूष उस लक्ष्मी को पत्थर के समान करता है ।।14।।

जो पुरूष लक्ष्मी को निरन्तर संचित करता है, न दान देता है, न भोगता है, उसके अपनी लक्ष्मी भी पर की लक्ष्मी के समान है ।।15।।

मनुष्य को विरक्त करने के लिये विधि ने मनुष्य के शरीर को अपवित्र बनाया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वे उसी में अनुरक्त हैं ।।85।।

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरूषों में भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव तथा बहुत समय तक बैर धारण करने का स्वभाव तथा बहुत समय तक बैर धारण करना–ये तीव्र कषाय के लक्षण हैं ।।92।।

जैसे चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न हाथ आना बहुत दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य भव प्राप्त करना अति दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ शरीर पाकर भी मिथ्यादृष्टि होकर जीव पाप ही करता है ।।290।।

गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंख-बाराओ।
पढम-कषाय-विणासं देस-वयं कुणदि न उक्कस्सं।।

उत्कृष्ट से यह जीव औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और देशव्रत इनको असंख्यात बार ग्रहण करता और छोड़ता है इसके बाद मुक्त हो जाता है ।।310।।

जं जस्स जम्मि देसे जेण बिहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा।।
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए।
सो सद्दिट्ठो सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी।।

सम्यग्दृष्टि विचारता है-जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है?

इस प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्यों को और सब पर्यायों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसके अस्तित्व में शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।।321-322-323।।

रयणाण महा-रयणं सव्वं जोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महा-रिद्धी सम्मत्तं सव्व-सिद्धियरं।।

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है, अधिक क्या, सम्यक्त्व सब सिद्धियों का करने वाला है।।325।।

बाहिर-गंथ-बिहीणा दलिद्द-मणुवा सहावदो होंति।
अब्भंतर गंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं।।

बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता।।387।।

पुण्णासाएं ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्ण सम्पत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आवरं कुणह।।

पुण्य की इच्छा करने से पुण्य बन्ध नहीं होता, बल्कि निरीह (इच्छा

रहित) व्यक्ति को ही पुण्य की प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर हे यतीश्वरो! पुण्य में भी आदर भाव मत रखो।।412।।

जो जिण सत्थं सेवदि पंडिय माणी-फलं समीहंतो।
साहम्मिय पडिकूलो सत्थं वि विसं हवे तस्स।।

जो पण्डिताभिमानी लौकिक फल की इच्छा रखकर जिन शास्त्रों की सेवा करता है और साधर्मीजनों के प्रतिकूल रहता है, उसका शास्त्रज्ञान भी विषरूप है।।463।।

परमध्यान

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर अपनी आत्मा में मन को लय करके आत्मसुख स्वरूप परम ध्यान का चिन्तन करना चाहिये। परमध्यान ही वीतराग परमानन्द सुखस्वरूप है, परमध्यान ही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है। परमध्यान ही शुद्धात्मस्वरूप है, परम ध्यान ही परमात्मस्वरूप है, एकदेश शुद्ध निश्चय नय से अपनी शुद्ध आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृत के सरोवर में राग आदि मल से रहित होने के कारण परमध्यान ही परमहंस स्वरूप है। परमध्यान ही परम विष्णु स्वरूप है, परम ध्यान ही परम शिवस्वरूप है, परम ध्यान ही परम बुधस्वरूप है, परम ध्यान ही परम जिनस्वरूप है, परम ध्यान ही स्वात्मोपलब्धि लक्षणरूप सिद्धस्वरूप है। परम ध्यान ही निरंजन स्वरूप है, परमध्यान ही निर्मलस्वरूप है, परम ध्यान ही स्वसंवेदन ज्ञान है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मदर्शन है, परमध्यान ही परमात्मदर्शनरूप है। परमध्यान ही ध्येयभूत शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप है, परम ध्यान ही शुद्ध चारित्र है, परमध्यान ही अत्यन्त पवित्र है, परमध्यान ही परमतत्व है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मद्रव्य है, क्योंकि वह शुद्ध आत्मद्रव्य की उपलब्धि का कारण है। परमध्यान ही उत्कृष्ट ज्योति है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मानुभूति है, परमध्यान ही आत्मप्रतीति है, परमध्यान ही आत्मसंवित्ति है, परमध्यान ही उत्कृष्ट समाधि है, परमध्यान ही स्वरूप की उपलब्धि में कारण होने से

स्वरूपोपलब्धि है, परमध्यान ही नित्योपलब्धि है, परमध्यान ही परमानन्द है, परमध्यान ही नित्य आनन्द स्वरूप है, परमध्यान ही सहजानन्द है, परमध्यान ही सदा आनन्दस्वरूप है। परम ध्यान ही शुद्ध आत्मपदार्थ के अध्यनरूप है परमध्यान ही परम स्वाध्याय है, परमध्यान ही निश्चय मोक्ष का उपाय है, परमध्यान ही एकाग्रचिन्ता निरोध है, परमध्यान ही परमबोधरूप है, परम ध्यान ही शुद्धोपयोग है, परम ध्यान ही परमयोग है। परमध्यान ही परम अर्थ है, परमध्यान ही निश्चय पंचाचार है, निश्चय ध्यान ही समयसार है, परमध्यान ही अध्यात्म का सार है, परमध्यान ही निश्चय षट् आवश्यकस्वरूप है, परमध्यान ही निश्चल षट् आवश्यकस्वरूप है, परमध्यान ही अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, परमध्यान ही वीतराग सामायिक है, परमध्यान ही उत्तम शरण और उत्तम मंगल है, परमध्यान ही केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, परमध्यान ही समस्त कर्मों के क्षय में कारण है, परमध्यान ही निश्चय चार आराधना स्वरूप है, परमध्यान ही परम भावना है, परमध्यान ही शुद्धात्मभावना से उत्पन्न सुखानुभूति स्वरूप उत्कृष्ट कला है, परमध्यान ही दिव्य कला है, परमध्यान ही परम अद्वैतरूप है, परमध्यान ही परमामृत है, परमध्यान ही धर्मध्यान है, परमध्यान ही शुक्ल ध्यान है,परमध्यान ही रागादि विकल्पों से शून्य ध्यान है, परमध्यान ही परमस्वास्थ्य है, परमध्यान ही उत्कृष्ट वीतरागता है, परमध्यान ही उत्कृष्ट साम्यभाव है, परमध्यान ही उत्कृष्ट भेद विज्ञान है, परमध्यान ही शुद्धचिद्रूप है, परमध्यान ही उत्कृष्ट समत्व रसरूप है। रागद्वेषादि विकल्पों से रहित उत्तम आह्लाद स्वरूप परमात्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

–बृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा–56

जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होते हुए कर्मों के मल को जला डाला है तथा उत्कृष्ट पद को पा लिया है उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ। –योगसार, 1

(17) स्वयंभू स्तोत्र

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य, सावद्य लेशो बहु-पुण्य-राशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य, न दूषिका शीत-शिवाऽम्बुराशौ।।

हे पूज्य जिन श्री वासुपूज्य! आपकी पूजा करते हुए प्राणी के जो सावद्यलेश होता है, वह बहुपुण्य राशि में दोष का कारण नहीं बनता, विष की एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जल से भरे हुए समुद्र को दूषित-विषैला नहीं करती।।12-3।।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।

आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनों को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है। प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त स्वरूप सिद्ध होता है और विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त में एकान्तरूप सिद्ध होता है।।18-18।।

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं, चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन! सकलज्ञलाञ्छनं, वचनमिदं वदतांवरस्य ते।।

हे मुनिसुव्रत जिन! आप वदतांबर हैं-प्रवक्ताओं में श्रेष्ठ हैं-आपका यह वचन कि 'चर और अचर जगत प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोध (ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) लक्षण को लिये हुए है'-सर्वज्ञता का चिन्ह है।।204।।

यदि मन शंकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का विचार करना योग्य है, प्रमादी हो गया हो तो चरणानुयोग का विचार करना योग्य है और कषायी हो गया हो तो धर्मकथानुयोग का विचार योग्य है और जड़ हो गया हो तो गणितानुयोग (करणानुयोग) का विचार करना योग्य है।

(18) तत्त्वसार

कालाइलद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स।
तह तह जायइ णूणं सुसब्बसामग्गि मोक्खट्ठं ।।

जैसे-जैसे भव्य पुरूष की काल आदि लब्धियां निकट आती जाती हैं, वैसे-वैसे ही निश्चय से मोक्ष के लिये उत्तम सर्व सामग्री प्राप्त हो जाती है।।12।।

संका-कंखागहिया विषयपसत्ता सुभग्गपब्भट्ठा।
एवं भणंति केई ण हु कालो होई झाणस्स।।

शंकाशील और विषयसुख की आकांक्षा वाले, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त और मोक्ष के सुमार्ग से प्रभ्रष्ट कितने ही पुरूष इस प्रकार कहते हैं कि यह काल ध्यान के योग्य नहीं है।।14।।

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाउण जंति सुरलोए।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं।।

आज भी रत्नत्रय धारक मनुष्य आत्मा का ध्यानकर स्वर्गलोक को जाते हैं और वहां से च्युत होकर उत्तम मनुष्यकुल में उत्पन्न होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।।15।।

मल रहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो।।

जैसा कर्ममल से रहित ज्ञानमय सिद्धात्मा सिद्धलोक में निवास करता है, वैसा ही परमब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा देह में स्थित जानना चाहिये।।26।।

सिद्धोऽहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धों हं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य।।

(सिद्धोऽहं) मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनन्त ज्ञानादि से समृद्ध हूँ, मैं शरीर प्रमाण हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं असंख्य प्रदेशी हूँ और अमूर्त हूँ।।28।।

चेयणरहियो दीसई ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ।
तम्हा मज्झत्थो हं रूसेमि य कस्स तूसेमि।।

इस संसार में चेतन रहित पदार्थ दिखाई देता है और चेतना सहित पदार्थ दिखाई नहीं देता है। इस कारण मैं मध्यस्थ हूँ, किससे रुष्ट होऊं और किससे सन्तुष्ट होऊं।।36।।

तीन भुवन में भी स्थित सभी जीव अपने समान दिखाई देते हैं इसलिये वह मध्यस्थ योगी न तो किसी से रुष्ट होता है और न किसी से सन्तुष्ट होता है।।37।।

निश्चय से सभी जीव जन्म मरण से विमुक्त आत्म प्रदेशों की अपेक्षा सभी समान, आत्मीय गुणों से सभी सदृश और ज्ञानमयी हैं।।38।।

अहो...चैतन्य स्वरूप की अद्भुत महिमा....

देखो...इस चैतन्यस्वरूप की अद्भुत महिमा! उसके ज्ञान स्वभाव में समान ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं, किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है, इसलिए उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय अनुपम, बाधारहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है, ऐसा सुख संसार में नहीं है, संसार में तो दुःख ही है। अज्ञानी जीव इस दुःख में भी सुख का अनुमान करते हैं, किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

–समाधिमरण : पं. गुमानीरामजी

(19) रयणसार

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहा वा।
लोहीणं दाण जदि, विमाण सोहा सवं जाणे।।26।।

सत्पुरूषों का दान कल्पवृक्ष के फलों की शोभा के समान है और लोभी पुरूषों का जो दान है, वह अर्थी के शव की शोभा के समान है, ऐसा जानो।

जिण्णुद्धार-पदिट्ठा-जिणपूया तित्थवंदन वसेसधणं।
जो भुञ्जदि सो भुञ्जदि, जिणदिट्ठं णरयगदिदुक्खं।।32।।

जो व्यक्ति जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थयात्रा के अवशिष्ट धन को भोगता है, वह नरक गति के दुख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

पुत्तकलत्तविदूरो, दरिद्दो पंगुमूकबहिरंधो।
चाडालादि कुजादो, पूयादाणादि दव्वहरो।।33।।

पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला पुत्र-स्त्री रहित, दरिद्री, लंगड़ा, गूंगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

णरइ तिरियाई दुगदी, दारिद्द-वियलंप हाणि दुक्खाणि।
देव-गुरू-सत्थवंदण-सुदभेद-सज्झयविघणफलं।।37।।

नरकगति, तिर्यञ्चगति, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुख-यह सब देववन्दना, गुरुवन्दना, शास्त्रवन्दना, श्रुतभेद और स्वाध्याय में विघ्न डालने के फल हैं।

सम्यग्दृष्टि वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलह से समय बिताता है।।53।।

अण्णाणीदो विषयविरत्तादो होदि सयसहस्सगुणो।
णाणी कषायविरदो विषयासत्तो जिणद्दिट्ठं।।

विषयों से विरक्त अज्ञानी की अपेक्षा विषयों में आसक्त कषायों से

विरक्त ज्ञानी पुरूष लाख गुना फल प्राप्त करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।।80।।

जिनागम का अध्ययन ही ध्यान है। उसी से पंचेन्द्रियों का और कषायों का भी निग्रह होता है, इसलिये इस पंचमकाल में प्रवचनसार (जिनागम) का ही अभ्यास करना चाहिये।।90।।

जोइस-बेज्जा मतोवजीवणं वायवस्स ववहारं।
धणधण्णपरिग्गहणं समणाणं दूसणं होदि।।

ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र-विद्या द्वारा उपजीविका का चलाना, भूत-प्रेत की झाड़-फूंक का व्यापार करना, धन-धान्य का प्रतिग्रहण करना-ये काम श्रमण-मुनियों के लिये दूषण स्वरूप हैं।।103।।

जैसे चर्म, अस्थि और मांस खण्ड का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भोंकता है, इसी प्रकार जो पापी है, वह स्वार्थवश धर्मात्मा को देखकर कलह करता है।।106।।

कोहेण य कलहेण य, जायणसीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य, भुञ्जदि किं विंतरो भिक्खू।।112।।

जो साधु-क्रोध से, कलह करके, याचना करके, संक्लिष्ट परिणामों से, रौद्र परिणामों से और रुष्ट होकर आहार ग्रहण करता है, वह क्या साधु है? वह तो व्यंतर है।

वयगुणसील परीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं, सम्म विणा जाण भववीजं।।121।।

व्रत, गुण, शील, परीषह जय, चारित्र, तप, षट् आवश्यक ध्यान और अध्ययन यह सब सम्यक्त्व के बिना भव-बीज (संसार का कारण) जानो।

जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप को प्राप्त होने पर भी रत्नद्वीप में से रत्नों को छोड़कर काष्ठ ग्रहण करता है, वैसे ही मनुष्य भव में धर्म-भावना का त्याग करके अज्ञानी भोग की अभिलाषा करते हैं। *- श्री भगवती आराधना*

(20) सज्जनचित्तबल्लभ

किन्दीक्षा ग्रहणेन ते यदि धनाकांक्षा भवेच्चेतसि।
किङ्गार्हस्थमनेन वेष धरणेनासुन्दरम्मन्यसे।।
द्रव्योपार्जन चित्तमेव कथयत्यभ्यन्तरस्थाङ्गनां।
नोचेदर्थपरिग्रह ग्रहमतिर्मिक्षो न सम्पद्यते।।

जो धन की रूचि है उर अन्तर, संयम धारण सार न जानै।
ऐसे अपावन वेश बनावन से, घर-बार बुरा किस मानै।।
द्रव्य उपार्जन चित्त निरन्तर, अन्तर कामिनि चाह बखानै।
नातर हे मुनि अर्थ परिग्रह लेन की बुद्धि, कदापि न हानै।।

टीका- हे भिक्षुक साधु! यदि तेरे चित्त में धनादिक की इतनी चाह रहती है, तो तूने दीक्षा ही क्यों ग्रहण की? अर्थात् जिनदीक्षा ग्रहण करने पर भी धनादिक के प्रति लिप्सा है, तो गार्हस्थ एवं मुनि जीवन में पार्थक्य क्या रहा? अतः तूने जिन दीक्षा लेने का महत्व ही नहीं समझा है। दीक्षा के पश्चात् भी धनादिक के प्रति आकर्षण स्त्री जनों के प्रति अभिलाषा की ही अभिव्यक्ति करता है। यदि स्त्री की अभिलाषा न होती तो धन-संचय की प्रवृत्ति ही क्यों होती?।।5।।

दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतम्भिक्षाटनाङ्कम्भोजनं,
शय्या स्थण्ठिल भूमिषु प्रतिदिनं कट्यां न ते कर्पटं।
मुण्डं मुण्डितमर्द्धदग्धशववत्त्वं दृश्यते भो जनैः,
साधोद्याप्यबलाजनस्य भवतो गोष्ठी कथं रोचते।।

आवत गन्ध बुरी मुख में, अरु धूसर अंग, भिक्षा कर खाना,
भूमि कठोर विषे नित सोवत, ना कटि में कोपीन प्रमाना।
मुण्डित मुण्ड, पै दृग लोकन अर्द्धजले मृत अङ्ग समाना,
नारिन के संग भो मुनि अद्यपि चाहत क्यों कर बात बनाना।।

हे साधु! तुमको अब भी स्त्रियों की वार्ता कैसे रूचती है? तुम्हारा मुख तो दुर्गन्धियुक्त है, शरीर मैल से भरा हुआ है, भिक्षा से भोजन मिलता है कठोर भूमि प्रतिदिन की शय्या है, कमर में लंगोट भी नहीं है, सिर मुंडा हुआ है, लोगों को तुम आधे जले हुए मुर्दे के समान दिखाई देते हो।।7।।

अङ्गशोणितशुक्रसम्भवमिदम्मेदोस्थिमज्जाकुलम्,
बाह्ये माक्षिकपत्रसन्निभमहो चर्म्मावृतं सर्वतः।
नोचेत्काकबकादिभिर्वपुरहो जायेत् भक्ष्यं ध्रुवं,
दृष्ट्वाद्यापि शरीर सद्मनि कथं निर्वेगतानास्तिते।।

शोणित वीरज सों उपजी यह देह अपावन बस्तु भरी है।
बाहिर माक्षिक पंख समान जु, चाम लपेटन सों सुथरी है।।
नातर वायस और बकादिक भुञ्जत संशय कोन करी है।
यों लख अद्यपि तें बहु विस्मय देह विषैं ममता न हरी है।।

अरे! इस शरीर को देखकर अब भी शरीर रूप घर से वैराग्य नहीं है, कैसे शरीर से? रक्त वीर्य से बने हड्डी मांस मज्जादि से भरे, बाहर से सर्व तरफ से मक्खी के परों के समान चमड़ी से रूका हुआ है। नहीं तो काक, बगुलादिक पक्षियों के द्वारा यह शरीर खा लिया जाता।।8।।

देह बुरी दुर्गन्ध भरी यह, नौ मल द्वारा बहैं नित यासूं।
ताहि विलोक न होत विराग, अहो चित में इस पूछत तासूं।।
कौन अपावन वस्तु धरा पर, हो विरती चित में लख जासूं।
केसर आदि सुगंधित वस्तु, लहै दुर्गन्ध स्पर्शत तासूं।।

जो घर में धन हो, कदापि करै तिय सोच मरे बलमा की।
जो नहिं हो धन तौ नित रोबत, धार हिये अभिलाष जिवा की।।
दग्ध किये पर सर्व कुटुंबिन स्वार्थ लगैं ममता तज ताकी।
केतिक वर्ष गये अबलाजन, भूलहिं नाम न लै सुधिवाकी।।

औरन का मरना अविचारत, तू अपना अमरत्व विचारै।
इन्द्रिय रूप महागज के वशीभूत भया, भव भ्रान्ति निहारै।।
आजहिं आवत वा कल के दिन, काल न तू यह रञ्चचितारै।
तौ ग्रह धर्म जिनेश्वर भाषित, जो भव सन्तति बेग निवारै।।

चाहत है सुख, क्या पिछले भव दान दिया, अरू संयम लीना।
नातर या भव में सुख प्रापति हो न भई, सो पुराकृत बीना।।
जो नहिं डारत बीज मही पर धान लहै न, कृषक मति हीना।
कीटक भक्षित ईख समान शरीर विषै तज मोह प्रवीना।।

आयुष अर्द्ध अरे मति मन्द, व्यतीत भई तब नींद मंझारी।
अर्द्ध त्रिभाग बुढ़ापन शैशव, यौवन के वश व्यर्थ विसारी।।
आतम में दृढ़ धार सुधी ग्रह, ज्ञान असि मोहपास विदारी।
मुक्ति रमा रमणी वश कारण, हो नित सम्यक्चारित धारी।।

सांड समान अनस्थित हो विचरै, जु असंग स्वछन्द अकेला।
छोड़ दिया निज संगति को, अवलाजन सों कर आपन मेला।।
जो तिन में अभिलाष नहीं तब, तौ तिन रैत भ्रमैकिम गैला।
क्यों न रहै मुनि संगति में, धर उत्तम चारित पन्थ सुहेला।।

भो मुनि अर्द्ध जले शव तुल्य निहारतु मैं, अरू भूत समाना।
भीत नहीं जिनके घट में पुन बोलत, तो संग शंक न आना।।
राक्षसी है वनिता, मम भक्षण को उतरी, यह जान सुजाना।
भाग हिये धर मृत्यु तनो भय, तिष्ठ न व्हों क्षण एक प्रमाना।।

प्रेताकार आकृति वाले, आधे जले मृतक समान तुमको देखकर जिनको भय नहीं है, तुम्हारे सामने अरे! जो बात करती हैं, वे स्त्रियां धरती पर राक्षसी के समान हैं और मुझको खाने आयी हैं, ऐसा मानकर मरण भय से शीघ्र वहां से भाग जा, तू क्षण भर भी वहां मत ठहर।।22।।

(21) अष्टपाहुड़ (दर्शन पाहुड़)

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण बंदिव्वो।।

जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं उन्होंने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो! उस धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन रहित हैं वे वंदन योग्य नहीं हैं इसलिये दर्शनहीन की वंदना मत करो।।2।।

दंशणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिघ्झंति।।3।।

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं, जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं परन्तु जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

सम्मत्त रयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।।4।।

जो जीव सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट हैं तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं। दो बार कहकर बहुत परिभ्रमण बतलाया है।

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तबं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडिहिं।।5।।

जो पुरूष सम्यक्त्व से रहित हैं वे सुष्ठु अर्थात् भली भाँति उग्र तप का आचरण करते हैं तथापि वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका लाभ प्राप्त नहीं करते; यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहे तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।।8।।

जो पुरूष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान-चारित्र में भी भ्रष्ट हैं वे पुरूष भ्रष्टों में भी विशेष भ्रष्ट हैं। वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु अन्य जनों को भी नष्ट करते हैं।

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ वोही पुण दुल्लहा तेसिं।।12।।

जो पुरूष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं वे परभव में लूले, मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि वोही पावं अणुमोयमाणाणं।।13।।

जो पुरूष दर्शन सहित हैं वे भी, जो दर्शन भ्रष्ट हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा भय, गारव से विनयादि करते हैं, उनके भी बोधि की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है, उसका अनुमोदन करते हैं।

सूत्र पाहुड़

जह जाय रूब सरिसो तिल तुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।18।।

मुनि यथाजातरूप है जैसे जन्मता बालक नग्नरूप होता है वैसे नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा धारक है, वह अपने हाथ से तिल के तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता है और यदि थोड़ा बहुत लेबे-ग्रहण करें तो वह मुनि ग्रहण करने से निगोद में जाता है।

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।23।।

जिन शासन में इस प्रकार कहा है कि वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है, यदि तीर्थंकर भी हो तो जब तक गृहस्थ रहे तब तक मोक्ष नहीं पाता है, दीक्षा लेकर दिगम्बर रूप धारण करे तब मोक्ष पावे क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग है।

भावपाहुड़

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं।।18।।

जन्म-जन्म मैं अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध इतना पिया कि उसको एकत्र करें तो समुद्र के जल से भी अतिशय कर अधिक हो जावे। यहाँ अतिशय का अर्थ अनन्तगुणा जानना क्योंकि अनन्तकाल का एकत्र किया हुआ दूध अनन्तगुण हो जाता है।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णाण्णाणं अणेयजणणीणं।
रूण्णाण णयणणीर सायरसलिलाहु अहिययरं।।19।।

हे मुने! तूने माता के पेट में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य माता के रूदन के नयनों का नीर एकत्र करें तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक गुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी।
पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी।।20।।

हे मुने! इस अनन्त संसार सागर में तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल, अस्थि, कटे-टूटे उनका यदि कोई देव पुंज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे।

तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं।।23।।

हे जीव! तूने इस लोक में तृष्णा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तो भी तृषा का व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसार का मंथन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय का चिन्तन कर।

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सबारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयबासम्मि।।28।।

हे आत्मन्! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ।

इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छयानवे-छयानवे रोग होते हैं, तब कहो अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें।।37।।

इस संसार में चौरासी लाख योनि उनके निवास में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भावरहित होता हुआ भ्रमण न किया हो।।47।।

तुसमासं घोसंतों भावविशुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य शिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।।

आचार्य कहते हैं शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पड़े थे, परन्तु तुष-माष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रगट है।।53।।

दब्बेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।।

द्रव्य से बाह्य तो सब प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। 'सकलसंघात' कहने से अन्य

मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिये भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए।।67।।

धम्मम्मि णिप्पवासो दीक्षावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण।।

धर्म अर्थात् अपने स्वभाव में जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षु के फूल के समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नटश्रमण अर्थात् नाचने वाले भांड के स्वांग के समान है।।71।।

हे मुने! तू इन्द्रियों की सेना है उसका भंजन कर विषयों में मत रम, मन रूप बंदर को प्रयत्नपूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोक को रंजन करने वाला मत धारण कर।।90।।

हे मुनि! तू संसार को असार जानकर उत्तमबोधि के निमित्त अविकार अर्थात् अतिचार रहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिक की भावना कर।

(निरन्तर स्मरण में रखना :- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुनि! दीक्षा के समय की अपूर्व उत्साहमय तीव्र विरक्तदशा को; किसी रोगोत्पत्ति के समय की उग्र ज्ञान-वैराग्य सम्पत्ति को किसी के दुख के अवसर पर प्रगट हुई उदासीनता की भावना को किसी उपदेश तथा तत्त्वविचार के धन्य अवसर पर जगी पवित्र अन्तः भावना को स्मरण में रखना, निरन्तर स्वसन्मुख ज्ञातापन का धीरज अर्थ स्मरण में रखना, भूलना मत)।।110।।

उत्थरइ जा-ण जरओ रोयग्गी जा-ण-ऽहइ देहउडिं।
इन्द्रियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं।।

रे! आक्रमे न जरा, गदाग्नि दहे न तनकुटिज्यांलगी।
बल इन्द्रियो का नहिं घटे, करी ले तुं निज हित त्यां लगी।।132।।

हे मुने! जब तक तेरे जरा न आवे तथा जब तक, रोग-रूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटी को भस्म न करे और जब तक इन्द्रियों का बल न घटे, तब तक अपना हित कर लो।

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसबओ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ।।
जीवमुक्त शव कहेवाय, 'चलसव' जान दर्शनमुक्तको।
शव लोक मांही अपूज्य, चल सव होय लोकोत्तर विषे।।143।।

लोक में जीव रहित शरीर को 'शव' कहते हैं, 'मृतक' या 'मुरदा' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित पुरुष 'चलता हुआ मृतक' है। मृतक तो लोक में अपूज्य है और 'सम्यग्दर्शन रहित चलता हुआ शव' लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है।

तेच्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण साबयसयो सो।।155।।

पूर्वोक्त भाव सहित पुरुष हैं और शील संयम गुणों से सकल कला अर्थात् सम्पूर्ण कलावान होते हैं, उन्हीं को हम मुनि कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, मलिनचित्त सहित मिथ्यादृष्टि हैं और बहुत दोषों का आवास हैं वह तो भेष धारण करते हैं तो भी श्रावक के समान भी नहीं हैं।।155।।

मोक्षपाहुड़

परदब्बादो दुग्गई सद्दब्बादो दु सुग्गई होइ।
इय णाऊण सदब्बे कुणह रई विरह इयरम्मि।।16।।

परद्रव्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य से सुगति होती है यह स्पष्ट जानो, इसलिये हे भव्यजीवो! तुम इस प्रकार जानकर स्वद्रव्य में रति करो और अन्य जो परद्रव्य उनसे विरति करो।

जो सुत्तो बबहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि बवहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे।।
इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सब्वहा सब्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणबरिंदेहिं।।
योगी सोता व्यवहार में वह जागता निजकार्य में।
जो जागता व्यवहार में वह सुप्त आतम कर्म में।।31।।
यह जान योगी सर्वथा छोड़े सकल व्यवहार को।
परमात्म को ध्यावे यथा उपदिष्ट जिनदेवो बड़े।।
दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिब्बाणं।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं।।32।।

जो पुरूष दर्शन से शुद्ध है वह ही शुद्ध है क्योंकि जिसका दर्शन शुद्ध है वही निर्वाण को पाता है और जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है वह पुरुष ईप्सित लाभ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।।39।।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण।।53।।

अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा बहुत भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है उतने कर्मों का ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित होकर अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणास्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।।62।।

सुख से भाया गया ज्ञान है वह उपसर्ग-परीषहादि के द्वारा दुख उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, इसलिये यह उपदेश है कि जो योगी-ध्यानी मुनि है वह तपश्चरण आदि के कष्ट सहित आत्मा को भावे।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुक्खं।।65।।

प्रथम तो आत्मा को जानते हैं वह दुख से (पुरुषार्थ से) जाना जाता है, फिर आत्मा को जानकर भी भावना करना, फिर-फिर इसी का अनुभव करना दुख से होता है, कदाचित भावना भी किसी प्रकार हो जावे तो भायी है भावना जिसने ऐसा पुरूष विषयों से विरक्त बड़े दुख से (अपूर्व पुरूषार्थ से) होता है।

भावार्थ-आत्मा का जानना, भाना, विषयों से विरक्त होना उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है, इसलिये यह उपदेश है कि ऐसा सुयोग मिलने पर प्रमादी न होना।

अभी पंचमकाल ध्यान का काल नहीं है, इसका निषेध करते हैं-

चरियाबरिया बदसमिदिबज्जिया शुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।।

कई मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचार क्रिया आवृत्त है, चारित्र मोह का प्रबल उदय है इससे चर्या प्रगट नहीं होती है इसी से व्रत समिति से रहित हैं और मिथ्या अभिप्राय के कारण शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ऐसे कहते हैं कि-अभी पंचमकाल है, यह काल ध्यान योग का नहीं है।।73।।

सम्मत्त णाण रहियो अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भण्णइ झाणस्स।।

पूर्वोक्त ध्यान का अभाव कहने वाला जीव सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित है, अभव्य है इसी से मोक्ष रहित है और संसार के इन्द्रियसुखों को भले जानकार उनमें रत है, आसक्त है इसलिये कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है।।74।।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स।।

जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनमें मूढ़ है, अज्ञानी है

अर्थात् इनका स्वरूप नहीं जानता है और चारित्रमोह के तीव्र उदय से इनको पाल नहीं सकता है, वह इस प्रकार कहता है कि अभी ध्यान का कल नहीं है।।75।।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

इस भरतक्षेत्र में दुःखमकाल-पंचमकाल में साधु मुनि के धर्मध्यान होता है यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित है उस मुनि के होता है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है।।76।।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिब्बुदिं जंति।।

अभी इस पंचमकाल में भी जो मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता युक्त होते हैं वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लोकान्तिक देव पद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।।77।।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरबरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।।

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है जो नरप्रधान अतीत काल में सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।।88।।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं।।

जिन पुरुषों ने मुक्ति को करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्नावस्था में भी मलिन नहीं किया, अतीचार नहीं लगाया, उन पुरूषों को धन्य है, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पण्डित हैं।।89।।

णबिएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह।।103।।

हे भव्यजीवो! तुम इस देह में स्थित ऐसा कुछ क्यों है, क्या है उसे जानो, वह लोक में नमस्कार करने योग्य इन्द्रादि हैं, उनसे तो नमस्कार करने योग्य, ध्यान करने योग्य है और स्तुति करने योग्य जो तीर्थंकरादि हैं, उनसे भी स्तुति करने योग्य है-ऐसा कुछ है वह इस देह ही में स्थित है उसको यथार्थ जानो।

लिंगपाहुड़

णच्चदि गायदि तावं बायं बाएदि लिंगरूपेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।4।।

जो लिंगरूप करके नृत्य करता है, गाता है, वादित्र बजाता है सो पाप से मोहित बुद्धि वाला है, तिर्यंच योनि है, पशु है, श्रमण नहीं है।

सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म निष्फल

एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गई तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुनः हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इन सबके मिल जाने पर भी यदि सच्चे धर्म की प्राप्ति न हुई तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है; उसी प्रकार सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है।

-श्री सर्वार्थसिद्धि

(22) वृहद् द्रव्य संग्रह

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
बिण्णेया संसारी सब्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।13।।

सर्व संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से चौदह-चौदह प्रकार के हैं। शुद्धनय से यथार्थ में सब संसारी जीव शुद्ध जानना।

अशुभपरिणाम बहुलता लोकस्य बपुलता महामहती।
योनि बिपुलता च कुरूते सुदुर्लभां मानुषीं योनिम्।।

अशुभ परिणामों की बहुलता, संसार की विशालता, योनियों की अत्यन्त विपुलता-यह सब मनुष्य योनि को बहु दुर्लभ करते हैं। (गाथा 35 की टीका, पृ. 164)

रयणत्तयं ण बट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदबियम्हि।
तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा।।40।।

रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं रहता इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।।48।।

यदि तुम विचित्त (विकल्पजाल रहित) ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो।

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।56।।

हे भव्यो! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तवन मत करो, जिससे आत्मा आत्मा में तल्लीनरूप से स्थिर हो जाये। यही परम ध्यान है।

(23) श्रुतभवनदीपक नयचक्र

सभी जीव स्व-स्वभाव से नयपक्षातीत हैं, क्योंकि सभी सिद्धस्वभाव के समान स्वपर्यवसित स्वभाव वाले हैं। पृष्ठ 17।।

प्रमाण लक्षण वाला व्यवहारनय भी आत्मा को नपपक्षातीत नहीं कर सकता, अतः पूज्यतम नहीं है; क्योंकि प्रमाण में निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोग व्यवच्छेद के अभाव में व्यवहार लक्षणवाली भावक्रिया (विकल्पजाल) का निरोध अशक्य है। अतः वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित नहीं कर सकता।

आगे और भी कहते हैं कि निश्चयनय आत्मा को सम्यक् प्रकार से एकत्व के निकट ले जाकर, ज्ञानचैतन्य में अच्छी तरह स्थापित करके, परमानन्द को उत्पन्न करके वीतराग करता हुआ, स्वयं निवृत्त होकर आत्मा को नय पक्षातिक्रान्त करता है; अतः पूज्यतम है।

इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादक होने से निश्चयनय भूतार्थ है, इसी का आश्रम लेने से आत्मा अन्तर्दृष्टिवान होता है। पृष्ठ 25।।

कर्ममध्यस्थितं जीवं शुद्धं गृह्णाति सिद्धवत्।
शुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेयः स नयो नयबेदिभिः।।

जो नय कर्मों में स्थित (संसारी) जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है; उसे नयों के वेत्ताओं ने शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा है।।3।।

गृह्णाति वस्तुभावं शुद्धाशुद्धोपचारपरिहीनं।
स परमभावग्राही ज्ञातव्यः सिद्धकामेन।।

जो नय वस्तु के भाव को शुद्ध, अशुद्ध और उपचार की विवक्षाओं से रहित ग्रहण करता है; वह परम भावग्राही द्रव्यार्थिकनय है।

इस नय को मोक्ष के अभिलाषियों को अवश्य जानना चाहिये।।11।।

पर्यायानंगिनां शुद्धात् सिद्धानामिव यो वदेत्।
स्वभावनित्यशुद्धोऽसौ पर्यायग्राहको नयः।।16।।

जो नय (अशुद्ध) पर्यायों को धारण करने वाले संसारी जीवों को सिद्धों के समान शुद्ध कहता है, वह नित्य स्वभाव रूप पर्याय का ग्राहक शुद्ध पर्यायार्थिकनय है।

स्वभाव सेवया चासौ स्वभावः पारिणामिकः।
शुद्धाः शुद्धस्वभावः स्यादशुद्धस्तु हि बंधकः।।4।।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध पारिणामिक भाव है। इस शुद्धस्वभाव के सेवन से जीव मुक्त होता है तथा अशुद्ध स्वभाव के सेवन से बंधता है।।

अतः शुद्धता और अशुद्धता दोनों के ही विकल्प आराध्य नहीं हैं, केवल पारमार्थिक भाव (पारिणामिक भाव) ही आराध्य है।पृष्ठ क्र.122।।

एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।5।।

जो एक भाव वाला है, वह सर्व भाव के स्वभाव वाला है; तथा जो सर्व भाव हैं, वे एक भाव के स्वभावमय हैं। अतः जिसने वास्तविक रूप से एक भाव को जान लिया, उसने वास्तव में सर्व भावों को जान लिया।पृष्ठ 123।।

जीव द्रव्य उत्तम गुणों का धाम है-ज्ञानादि उत्तम गुण इसमें ही हैं। सर्वद्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही प्रधान है। कारण कि सर्वद्रव्यों को जीव ही प्रकाशता है। सर्वतत्त्वों में परमतत्त्व ही है और अनंत ज्ञान सुखादि का भोक्ता भी जीव ही है। ऐसा हे भव्य! तू निश्चय से जान।

-श्री कार्तिकेयस्वामी : द्वादश अनुप्रेक्षा, गाथा-204

(24) पञ्चाध्यायी

अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूति समये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्।।

विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदि के दो ज्ञान भी स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष ज्ञान के समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं और समय में नहीं।।1-706।।

इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदय विनाशजा शक्तिः
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यथा।।

तथा सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्मोदय के नाश होने से कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रगट हो जाती है कि जिसके द्वारा नियम से स्वात्म प्रत्यक्ष होने लगता है।।1-710।।

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्।
नात्मीयलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम्।।

मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो जाता है परन्तु आत्मा का शुद्ध अनुभव उसको नहीं होता है यह केवल मिथ्यादर्शन के उदय का ही माहात्म्य है।।2-199।।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैरनतिक्रमात् ।।

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध हो चुकी कि जब तक आत्मा की शुद्ध उपलब्धि है तभी तक सम्यक्त्व है और तभी तक ज्ञानचेतना है।।2-227।।

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्त स एव च।।

सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनता रूप ज्ञान तथा अपनी आत्मा का अनुभव स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिन्ह सम्यग्ज्ञानी के हैं और वही ज्ञानी नियम से जीवन्मुक्त है।।232।।

ज्ञानी सदा अपनी आत्मा को इस प्रकार देखता है कि आत्मा कर्मों से नहीं बंधा है, वह किसी से नहीं मिला है, शुद्ध है सिद्धों की उपमा धारण करता है, शुद्ध स्फटिक के समान है, सदा आकाश की तरह परिग्रह रहित है, अतीन्द्रिय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य की मूर्ति है और अतीन्द्रिय सुख आदिक अनन्त स्वाभाविक गुणवाला है। इस प्रकार ज्ञान की ही अद्वितीय मूर्ति-वह ज्ञानी अपने आपको देखता है। प्रसंगवश दूसरे पदार्थ की भले ही इच्छा करे, परन्तु वास्तव में वह समस्त पदार्थों से कृतार्थ सा हो चुका है।।235-236-237।।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सदृष्टेर्दृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः।।

सम्यग्दृष्टि को प्रत्यक्ष में देखे हुए रोग की तरह सम्पूर्ण भोगों में उपेक्षा (वैराग्य) हो चुकी है और उस अवस्था में ऐसा होना अवश्यंभावी तथा स्वाभाविक है।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन गुण से होने वाले स्वानुभूति रूप सच्चे सुखास्वाद के सामने सम्यग्दृष्टि को विषयसुख में रोग की तरह उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है।।261।।

दैवयोग से (विशेष पुण्योदय से) कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर तथा संसार समुद्र निकट रह जाने पर और भव्यभाव का विपाक होने से यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।।378।।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौचितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम्।।

बस आत्मा का एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो हर एक पदार्थ की सिद्धि कराता है। सम्यग्दर्शन के जानने के लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है इसलिये वही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है।।401।।

वह आत्मानुभूति आत्मा का ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों से अविनाभाव रखता है।।401।।

जिस आत्मा में जिस काल में स्वानुभूति है, उस आत्मा में उस समय अवश्य ही सम्यक्त्व है क्योंकि बिना सम्यक्त्व के स्वानुभूति हो नहीं सकती।।405।।

अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शुद्धात्मा का उपयोगात्मक अनुभव हो भी और नहीं भी हो। परन्तु सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभवावरण कर्म का क्षयोपशम रूप (लब्धि) ज्ञान अवश्य है।।406।।

सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोग की तरह वह बराबर बदलता नहीं है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है। इसलिये सम्यक्त्व और लब्धिरूप अनुभव की तो सम व्याप्ति है। परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक-अनुभव की विषय ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नहीं रहता है।।409।।

यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति के साथ हों तो वे गुण (सम्यग्दर्शन के लक्षण) समझे जाते हैं और बिना स्वानुभूति के गुणाभास समझे जाते हैं। अर्थात् स्वानुभूति के अभाव में श्रद्धा आदिक गुण नहीं समझे जाते।।415।।

बिना स्वार्थानुभव के जो श्रद्धा केवल सुनने से अथवा शास्त्रज्ञान से ही है वह तत्त्वार्थ के अनुकूल होने पर भी पदार्थ की उपलब्धि न होने से श्रद्धा नहीं कहलाती।।421।।

सम्यक्त्वस्वरूप आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्मा का अनुभव होना ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही धर्म का फल कहलाता है।।432।।

यह बात ठीक है कि आदि के दोनों ज्ञान (मति-श्रुत) परोक्ष हैं परन्तु वे पर-पदार्थ का ज्ञान करने में ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करने में वे भी

प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि स्वात्मानुभव दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होता है। दर्शन मोहनीय कर्म ही स्वानुभूति के प्रत्यक्ष होने में बाधक है और उसका अभाव ही साधक है।।462।।

आत्मा का अनुभव करने वाला ज्ञान सम्यग्दृष्टि को है। सम्यग्दृष्टि का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धों की उपमा वाला है।।489।।

दर्शनमोहनीय कर्म का अनुदय होने पर आत्मा के शुद्धानुभव होता है, उसमें चारित्रमोहनीय का उदय विघ्न नहीं कर सकता है।।688।।

सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये। यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करने में समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये। आत्महित और परहित इन दोनों में आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये।।805।।

जो ज्ञान किसी एक पदार्थ में निरन्तर रहता है उसी को ध्यान कहते हैं। इस ध्यानरूप ज्ञान में भी वास्तव में न तो क्रम ही है और न अक्रम ही है। ध्यान में एक वृत्ति होने से वह ज्ञान एक सरीखा ही विदित होता है। वह बार-बार उसी ध्येय की तरफ लगता है इसलिये वह क्रमवर्ती भी है।।843-44।।

सम्यग्दर्शन के साथ तथा उसके आगे और भी सद्‌गुण प्रगट होते हैं, वे सब सम्यग्दर्शन सहित हैं इसीलिये गुण हैं। उनमें से कुछ हैं-स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभवज्ञान, वैराग्य और भेदविज्ञान इत्यादि सभी गुण सम्यग्दर्शन के होने पर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाये।।940-41।।

यह ज्ञानरूपी धन ऐसा विलक्षण है कि चोर तो चुरा सकते नहीं, भाई बंधु बाँट सकते नहीं, मरण पीछे पुत्र आदि ले सकते नहीं, राजा छीन सकता नहीं और दूसरे लोग आँखों द्वारा देख नहीं सकते। तीन लोक में यह ज्ञान पूज्य है। यह ज्ञानघन जिनके पास हो उन लोगों को धन्य समझने में आता है।

-आचार्य अमितगति : सुभाषित रत्न संदोह, श्लोक 183

(25) पुरूषार्थसिद्धियुपाय

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोड़ै नहीं मुद्धता।
कोई व्यवहारनय निश्चय के मारग को,
भिन्न भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पण तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिकायत्र।।1।।

जिसमें दर्पण के तल की तरह समस्त पदार्थों का समूह अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्वित होता है, वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश जयवन्त वर्तो।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोध विमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।।5।।

इस ग्रन्थ में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्रायः भूतार्थ-निश्चय के ज्ञान के विरूद्ध जो अभिप्राय है, वह समस्त ही संसार स्वरूप है।

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना अस्ति।।6।।

ग्रन्थकर्ता आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहारनय का उपदेश करते हैं और जो जीव केवल व्यवहार को ही जानता है उसको उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये उपदेश नहीं है।

माणबक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।।7।।

जिस प्रकार सिंह को सर्वथा न जानने वाले पुरूष के लिये बिलाव ही सिंह रूप होता है वास्तव में उसी प्रकार निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरूष के लिये व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।8।।

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तुस्वरूप से यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपात रहित होता है वह ही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स-खलु भववीजम्।।14।।

इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।21।।

इन तीनों में प्रथम समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

हिंसा एवं अहिंसा का स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।42।।

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण यह सब

हिंसा ही हैं। असत्य वचनादि के भेद केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे गये हैं।

अप्रादुर्भावः खलु रागादिनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।44।।

निश्चय से रागादि भावों का प्रगट न होना यही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, ऐसा जिनागम का सार है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।45।।

और योग्य आचरण वाले सन्त पुरूष के रागादि भावों के बिना केवल प्राण पीड़न करने मात्र से कदाचित् हिंसा नहीं होती।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।46।।

रागादिभावों के वश में प्रवर्तती हुई अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो अथवा मत मरो हिंसा तो निश्चय से आगे ही दौड़ती है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।।47।।

कारण कि जीव कषाय भाव युक्त होने से प्रथम अपने से ही अपने को घात करता है और पीछे से भले ही दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा न हो।।

हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्।।48।।

हिंसा से विरक्त न होने से हिंसा होती है और हिंसा रूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है, इसलिये प्रमाद के योग में निरन्तर प्राणघात का सद्भाव है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।।

निश्चय से आत्मा के परवस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती, तो भी परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग करना उचित है।।49।।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात्।।

निश्चय से एक जीव हिंसा न करते हुए भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।।51।।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके।।

एक जीव को तो थोड़ी हिंसा उदयकाल में बहुत फल को देती है और दूसरे जीव को महान हिंसा भी उदयकाल में अत्यन्त थोड़ा फल देने वाली होती है।।52।।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
ब्रजति सहकारिणोरपि हिंसा बैचित्र्यमत्र फलकाले।।

एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी इस उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है, किसी एक को वहीं हिंसा तीव्र फल दिखलाती है और किसी दूसरे को वही हिंसा तुच्छ फल देती है।।53।।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति च कृता अपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।।

कोई हिंसा पहले ही फल देती है, कोई करते-करते फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न किये

जाने पर भी फल देती है। इसी कारण हिंसा कषाय भावानुसार ही फल देती है।।54।।

एकः करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहबो विदधति हिंसा हिंसाफलभुग्भवत्येकः।।

एक पुरूष हिंसा करता है परन्तु फल भोगने वाले बहुत होते हैं। इसी तरह हिंसा अनेक पुरूष करते हैं परन्तु हिंसा का फल भोगने वाला एक पुरूष होता है।।55।।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं।।
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्।।

किसी पुरूष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसा का फल देती है और दूसरे किसी पुरूष को वही हिंसा बहुत अहिंसा का फल देती है तथा अन्य किसी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा का फल देती है और दूसरे किसी को हिंसा अहिंसा का फल देती है अन्य नहीं।।56-57।।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढ़दृष्टीनाम्।
गुरूवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः।।

इस प्रकार अत्यन्त कठिनता से पार हो सकने वाले अनेक प्रकार के भंगों से युक्त गहन बन में मार्ग भूले हुए पुरूष को अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरू ही शरण होते हैं।।58।।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।

जिनेन्द्र भगवान का अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और दुःसाध्य नयचक्र धारण करने पर मिथ्याज्ञानी पुरूषों के मस्तक को तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।।56।।

अन्न के ग्रास के भोजन से मांस के ग्रास के भोजन में जिस प्रकार राग अधिक होता है उसी प्रकार दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि भोजन में निश्चय से अधिक राग होता है।।132।।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आश्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।

आत्मा के जितने अंश में सम्यक्दर्शन है उतने अंश में उसे बंध नहीं है तथा जितने अंश में राग है उतने अंश में उसे बंध है। जितने अंश में सम्यक्ज्ञान है उतने अंश में उसे बंध नहीं है, तथा जितने अंश में राग है उतने अंश में उसे बंध है। जितने अंश में उसे चारित्र है उतने अंश में उसे बंध नहीं है, तथा जितने अंश में उसे राग है उतने अंश में उसे बंध है।

इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण होता है, अन्य गति का नहीं और जो रत्नत्रय में पुण्य का आश्रव होता है वह अपराध शुभोपयोग का है।।220।।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

दही की मथानी की रस्सी को खींचने वाली ग्वालिनी की तरह जो वस्तु के स्वरूप को एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आकर्षण करती है- खींचती है, और फिर दूसरी पर्यायार्थिकनय से शिथिल करती है, वह जैनमत की न्याय पद्धति जयवन्ती है।।225।।

(26) आत्मानुशासनम्

जना घनाश्च वाचालः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिता।
दुर्लभा ह्यन्तरार्दास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः।।

मनुष्य तो खोटे उपदेशादिरूप वचन कहने वाले और मेघ खोटे गर्जने वाले तथा मनुष्य तो निरर्थक महंतता से उद्धत हुए और मेघ निरर्थक बादल रूप उठे, ऐसे मनुष्य व मेघ सुलभ हैं। परन्तु मनुष्य तो अन्तरंग धर्म बुद्धि से भीगे और मेघ अन्तरंग जल से भीगे, तथा मनुष्य तो संसार दुख से जीवों का उद्धार करने की इच्छा को धारे और मेघ अन्नादिक उपजाने से लोक का उद्धार करने के कारणपने को धारे, ऐसे मनुष्य व मेघ दुर्लभ हैं।।4।।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्त लोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृश्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्यों को जान चुका है, लोक व्यवहार से परिचित है, अर्थलाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की सम्भावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके मन को हरने वाला आकर्षित करने वाला तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।।5।।

भव्यः किं कुशलं गमेतिविमृशन् दुःखाद्भृशं भीतवान्,
सौख्यैषी श्रवणादि बुद्धिविभवः श्रुत्वाविचार्य स्फुटम्।

धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्या गमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन्धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः।।

जो शिष्य है सो धर्मकथा सुनने विषैं अधिकारी किया है। कैसा? प्रथम तो भव्य हो; क्योंकि जिसका भवितव्य भला होने का न हो तो सुनना कैसे कार्यकारी हो? तथा मेरा कल्याण क्या है ऐसा विचारता हो, क्योंकि जिसके अपना भला बुरा होने का विचार नहीं, वह क्यों सीख सुने तथा दुख से अतिशय डरता हो, क्योंकि जिसके नरकादिक का भय नहीं, वह पाप छोड़ने का शास्त्र क्यों सुने? तथा श्रवण आदि बुद्धि का वैभव जिसके पाया जाता हो। सुनने की इच्छा का नाम शुश्रुषा है। सुनने का नाम श्रवण है। मन से जानने का नाम ग्रहण है। न भूलने का नाम धारण है। विशेष विचार करने का नाम विज्ञान है। प्रश्नोत्तर कर निर्णय करना उसका नाम ऊहापोह है। तत्त्व श्रद्धान के अभिप्राय का नाम तत्त्वाभिनिवेश है। ऐसे ये बुद्धि के गुण हैं सो उसके पाये जाते हैं, क्योंकि इनके बिना शिष्यपना नहीं बनता तथा सुखकारी, दया गुणमयी, अनुमान आगम करि सिद्ध हुआ ऐसा जो धर्म उसे सुनकर विचार कर ग्रहण करता हो, क्योंकि ऐसा ही धर्म, ऐसे ही शिष्य को कार्यकारी होता है तथा जिसके खोटा हठ नष्ट हुआ हो, क्योंकि हठ से आपाथापी हो उसे सीख नहीं लगती।

भावार्थ :- ऐसे गुण सहित हो वह धर्म कथा सुनने का अधिकारी है, उसका भला होता है। इन गुणों के बिना धर्म कथा के सुनने का अधिकारी नहीं होता।।7।।

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम्।।

पुरूष-आत्मा उसके मंदकषायरूप उपशम परिणाम शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पापत्यजनरूप चारित्र, अनशनादिरूप तप, इनका महंतपना है वह पाषाण के बोझ समान है। विशेष फल का दाता नहीं तथा वही सम्यक्त्व

संयुक्त हो तो महामणि के गुरूत्ववत् पूजनीक है। बहुत फल का दाता महिमा योग्य है।।15।।

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते।।

कल्पवृक्ष का तो संकल्प योग्य जिसका वचन से याचना करे ऐसा फल है तथा चिन्तामणि का भी चिन्तवन योग्य मन से जिसकी याचना करे ऐसा ही फल है तथा धर्म से संकल्प योग्य नहीं और चिंतवन योग्य नहीं ऐसा कोई अद्‌भुत फल प्राप्त होता है।।22।।

भावार्थ - जैसे कोई सिंह की डाढ़ में आया पशु अपने शरीर को चबाता जो सिंह उसको तो विचारता नहीं और क्रीड़ा करने का उपाय करे। वहाँ बड़ा आश्चर्य होता है। ऐसे जन्म-मरण है वह यम की डाढ़ है। उसके बीच काल को प्राप्त हुआ यह लोक उसे अपनी आयु को हरता जो काल उसका विचार ही नहीं करता और राज्यादिक पद लेने का नाना उपाय करता है सो यह बड़ा आश्चर्य है। ऐसा मूर्खपना छोड़ यम का चिन्तवन करके विषय वांछा करना योग्य नहीं है।।34।।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धी कृतेक्षणः।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो नः केनचित्।।

विषयों से अन्ध किया है-सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जिसका ऐसा यह जीव है सो अन्ध से भी महाअंध है। अंध है वह तो नेत्र से ही नहीं जानता है परन्तु विषयों से अन्ध है वह तो किसी से भी नहीं जानता है।।35।।

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा सो विषयैषिता।।

अहो प्राणी! यह आशारूप गहरा गड्‌ढा सभी प्राणियों के है। जिसमें समस्त त्रैलोक्य की विभूति अणु समान सूक्ष्म है। जो त्रैलोक्य की विभूति एक

प्राणी को मिल जाये तो भी तृष्णा न भगे। किसके क्या कितना आये। इसलिये तेरे विषय की वांछा वृथा है।।36।।

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः।।

धर्म वही जिसमें अधर्म नहीं। सुख वही है जिसमें दुख नहीं। ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं तथा गति वही है जहां से फिर वापिस आना नहीं।।46।।

हे विषय के लोलुपी! विचार रहित!! तू जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्यादि उद्यम कर इस लोक में धन के उपार्जन के लिये बारम्बार क्लेश करता है, सो ऐसा उपाय जो एक बार परलोक के लिये करे तो फिर जन्म-मरणादि दुख न पावे। अहो! तू धन का साधन छोड़कर धर्म का साधन कर।।47।।

भावार्थ :- भोग-तृष्णारूप आशा नदी, में तू अनादि काल से बहता चला आ रहा है, सो इसके तिरने को आत्मज्ञान के द्वारा तू ही समर्थ है, और उपाय नहीं। ज्ञान ही से आशा मिटै। इसलिये अब पराधीनता तज शीघ्र ही स्वतन्त्र हो, आशा नदी के पार जाओ, नहीं तो संसार समुद्र के मध्य डूबेगा, इस संसार सागर में कालरूप ग्राह अति प्रबल है, सदा मुख फाड़े ही रहता है, उसका गंभीर मुख अतिविषम है, जगत को निगलता है। इसलिये तू काल से बचना चाहता है, काल के मध्य नहीं पड़ना चाहता है तो आशारूप नदी के पार जाओ।।49।।

हे भ्रात! तू भ्रांति तज, क्या आँखों से प्रत्यक्ष नहीं देखता है। यह जगत कालरूप पवन से निर्मूल किया जा रहा है। किसी के नाम मात्र भी स्थिरता नहीं। जिस दिवस का प्रभात होता है वही दिवस अस्त को प्राप्त होता है। इसलिये तू किस कारण जगत में बारम्बार आशा बांधकर भ्रमण कर रहा है।।52।।

भावार्थ –जो महा निद्रा के वश हो वह भी इतने कारण पाकर जाग्रत हो जाते हैं, जो किसी मुद्गर की चोट मार्मिक स्थान में दे तो निद्रा चली जाती है, अथवा अग्नि का आतप देह को लगे तो निद्रा जाती रहे तथा वादित्रों के नाद सुने तो निद्रा चली जाये। सो ये अविवेकी जन पापकर्म के उदयरूप मुद्गरों के द्वारा मर्म स्थानों पर मारे जाते हैं, और दुखरूप अग्नि से इसका देह जलता है तथा आज यह मरा, आज यह मरा ऐ शब्द यम के वादित्रों के नाद निरन्तर सुनता है, तो भी यह अकल्याणकारिणी मोहनिद्रा नहीं तजता, यह बड़ा आश्चर्य है!! ।।57।।

इस अल्प आयु और चंचल काय के बदले शाश्वत पद मिले तो फूटी कोड़ी के बदले चिन्तामणि आया जानना।।70।।

यह मनुष्यपना है सो घुन से खाया काने गन्ने के समान है। आपदारूपी गांठों से तन्मय है तथा अन्त में बिरस है। मूल में भी भोगने योग्य नहीं है, सर्वांग में क्षुधा, फोढ़ा, कोढ़, कुथितादि भयानक रोग उनके छिद्रों सहित है तथा एक नाम मात्र ही रमणीक है और सर्व प्रकार असार है। यहाँ इसे तू शीघ्र धर्म साधन से परलोक का बीज करके सार सफल कर।।81।।

जहजायरूवरारिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं।।

यथा जातरूप सदृश नग्न मुनि है वह पदार्थों में तिल का तुष मात्र भी ग्रहण न करे। जो थोड़ा बहुत ग्रहण करे तो उससे निगोद जाता है। सो यहाँ देखो गृहस्थ तो बहुत परिग्रह का धारी थोड़ा सा भी धर्म साधे तो भी शुभ गति पाता है और मुनि थोड़ा सा भी व्रत भंग करे तो निगोद जाता है।।अ.पा.।।

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।।

भावार्थ :– जो धर्म इस लोकविषैं अर परलोकविषैं जीव का भला करे ऐसे धर्म के कहने वाले और सुनने वाले पूर्व में चौथे काल में बहुत थे और अंगीकार करने वाले तब भी थोड़े ही थे, क्योंकि संसार में धर्मात्मा थोड़े ही

होते हैं तथा अब यह पंचमकाल ऐसा निकृष्ट है जिसमें सच्चे धर्म के कहने वाले और सुनने वाले भी थोड़े ही पाये जाते हैं। कहने वाले तो अपने लोभ मानादिक के अर्थी हुए इसलिये यथार्थ नहीं कहते और सुनने वाले जड़वक्र हुए इसलिये परीक्षा रहित हठग्राही होते हुए यथार्थ सुनते नहीं तथा कहना सुनना ही दुर्लभ हुआ तो अंगीकार करने की तो क्या बात! इस तरह इस काल में धर्म दुर्लभ हुआ है सो न्याय ही है। यह पंचमकाल ऐसा निकृष्ट है जिसमें सर्व ही उत्तम वस्तुओं की हीनता होती आती है, तो धर्म भी तो उत्तम है, इसकी वृद्धि कैसे हो? इसलिये ऐसे निकृष्ट काल में जिसे धर्म की प्राप्ति होती है वह ही धन्य है।।143।।

कलिकाल में नीति तो दंड है। दंड दिये न्याय मार्ग चलता है तथा यह दंड राजाओं से होता है, राजा के बिना अन्य देने को समर्थ नहीं तथा राजा धन के लिये न्याय करते हैं जिसमें धन आने का प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा न्याय राजा करते नहीं तथा यह धन मुनियों के पाया नहीं जाता, उनका भेष ही धनादिक रहित है। इसलिये तो इन भ्रष्ट हुए मुनियों को राजा न्यायमार्ग में चलाते नहीं तथा आचार्य हैं वे अपने लिये विनय नमस्कारादिक कराने के लोभी हुए। वो नम्रीभूत हुए जो मुनि उन्हें न्यायमार्ग में प्रवर्ताते नहीं। ऐसे इस काल में तपस्वी मुनि जिनके भला आचरण पाया जाता है वे जैसे शोभायमान उत्कृष्ट रत्न थोड़े पाये जाते हैं वैसे थोड़े विरले पाये जाते हैं।

भावार्थ-इस पंचमकाल में जीव जड़वक्र उपजते हैं वे दंड का भय बिना न्यायमार्ग में नहीं प्रवर्तते तथा लोक पद्धति में दंड देने वाला राजा है, और धर्म पद्धति में आचार्य हैं। वहाँ राजा तो धन का प्रयोजन सधे वहां न्याय करे, मुनियों के धन नहीं इसलिये राजा मुनियों पर न्याय चलाता नहीं, जैसे प्रवर्ते वैसे प्रवर्तो तथा आचार्य हैं वे विनय के लोभी हुए सो दंड देते नहीं। अतः भय बिना मुनि स्वच्छंद हुए हैं। कोई विरले मुनि यथार्थ धर्म के साधने वाले रहे हैं।।149।।

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया।।

स्तुति और निन्दा के सर्वोत्कृष्ट भाग को ये दो ही जीव प्राप्त होते हैं। एक तो जो तप के लिये चक्रवर्ती की सम्पदा छोड़ते हैं और एक वे जो विषय की आशा से तप को छोड़ते हैं।।164।।

इतस्तश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टंतपश्विनः।।

जैसे मृग दिन में वन में भ्रमण करके सिंहादिक के भय से रात्रि में ग्राम के समीप आकर रहते हैं, ऐसे कलिकाल में मुनि भी दिन में वन निवास कर रात्रि में ग्राम के समीप आवें सो हाय! हाय! यह बड़ा कष्ट है। मुनि महा निर्भय, वे मृगों की तरह ग्राम के समीप कैसे आकर बसते हैं? ।।197।।

बरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाक लोप्य वैराग्य सम्पदाः।।

इस जगत में स्त्रियों के जो कटाक्ष वे ही हुए लुटेरे, उनसे वैराग्य सम्पदा लुटाकर दीन हुआ और होने वाला है संसार भ्रमण जिससे, ऐसे तप से तो गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है।।198।।

विषय से विरक्तता, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, सम अर्थात् शांतता, रागादिक का त्याग, दम-मन इन्द्रियों का निरोध, यम-यावत् जीव हिंसादि पापों का त्याग, तिनका धारण, तत्त्व का अभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्ति का निरोध, जिनराज में भक्ति, जीवों की दया ये सामग्री विवेकी जीवों के संसार समुद्र का तट निकट आने पर होती है।।224।।

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः।।

मैं संसाररूप भ्रमण के मध्य भव भ्रमण के अभाव के लिये पूर्व में न भायी जो सम्यग्दर्शनादि भावना उनको भाता हूँ और जो मैंने पूर्व में मिथ्यादर्शनादि भावना अनादि काल से भायीं हैं उनको नहीं भाता हूँ।।238।।

(27) अमृताशीति

रत्नार्थिनी यदि कथं जलधिं विमुंचेत्,
रूपार्थिनी च पंचशरं कथं वा?
दिव्योपभोगनिरता यदि नैव शक्रम्,
कृष्णाश्रयादवमता न गुणार्थिनी श्रीः।।

(लक्ष्मी) यदि रत्नों की इच्छा रखती थी तो उसने रत्नाकर समुद्र को क्यों छोड़ा? और यदि रूप सौन्दर्य की अभिलाषिणी थी तो कामदेव को क्यों छोड़ा? यदि दिव्य भोगोपभोगों की रसिका थी तो इन्द्र का साथ नहीं छोड़ना चाहिये था, किन्तु उसने इन सबका साथ छोड़कर कृष्ण का संग स्वीकार किया, इससे यह सुस्पष्ट है कि यह लक्ष्मी गुणों को चाहने वाली नहीं हैं।

भावार्थ-तात्पर्य यह है कि कलिकाल में (मुख्यतः) गुणहीन व्यक्ति ही धनवान है।।8।।

अज्ञानमोहमदिरां परिपीय मुग्धम्,
हा हन्त! हन्ति परिबल्गाति जल्पतीष्टम्।
पश्येदृशं जगदिदं पतितं पुरस्ते,
किं कूर्दसे त्वमपि बालिश! तादृशोऽपि।।

अज्ञान और मोहरूपी मदिरा को पीकर जो व्यक्ति मुग्ध-मूढ़ हुआ है, अत्यन्त खेद है! कि वह मारता है, इधर-उधर दौड़ता है-भटकता है, (अनुचित बात को भी) बकवास करता है। तुम्हारे सामने पतन को प्राप्त इस जगत को देखो। हे मूर्ख! तुम भी उन अज्ञानियों जैसी ही उछलकूद क्यों कर रहे हो?।।16।।

बैरी ममायमहमस्य कृतोपकारः,
इत्यादि दुःखघनपावकपच्यमानम्।
लोकं विलोक्य न मनागपि कंपसेत्वम्,
क्रन्दं कुरूस्व बत तादृश कुर्दसे किम्?

'यह मेरा शत्रु है, मैं इसके उपकार को मानता हूँ' इत्यादि रूप संकल्प जन्य दुख की भयंकर आग से जलने वाले अज्ञानी जगत को देखकर तुम भय से किंचित् मात्र भी नहीं कांपते? (अरे!) तुम रोओ! क्रन्दन करो! हाय! उन्हीं के समान तुम भी क्यों कूद रहे हो? संसार में ही प्रसन्न होकर क्यों नाच रहे हो।।17।।

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः।
तदनवरतमन्तर्मग्न संविग्नचित्तः,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्।।

अगर किसी कारणवश तुम्हारा मन-उपयोग अपने निज (शुद्धात्म) स्वरूप से चलायमान हो जाता है और बाहर में भटकता है तो उक्त कारण से सर्वदोषों का प्रसंग आता है, इसलिये निरन्तर अन्तर्मग्न संविग्नचित्त वाले हो, जिससे तुम संसार के विनाश से स्थायी धाम (मुक्तिधाम) के स्वामी हो जाओगे।।61।।

बहिरबहिरसारे दुःखभारे शरीरे,
क्षयिणि वत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् बराकाः।
इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे,
भव, भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्।।

बाहर और भीतर सारहीन, दुखों के भार से लदे हुए, विनाशशील, इस शरीर में खेद है! कि विचारे मोहग्रस्त प्राणी, रमण करते हैं; यदि इस प्रकार की तुम्हारी बुद्धि हुई है तो निर्विकल्प निजस्वरूप में समा जाओ, जिससे तुम भवभ्रमण का नाश हो जाने से स्थायीधाम के स्वामी हो जाओगे।

भावार्थ :- स्वरूप का रसिक हुए बिना शरीर से विरक्ति नहीं हो सकती है।।63।।

संसारासार कर्मप्रचुरतर-मरुत्प्रेरणाद भ्राम्यताऽत्र,
भ्रातर्ब्रह्माण्डखण्डे नव-नव-कुवपुर्गृहणता मुञ्चता च।
कः कः कौतस्कुतः क्व क्वचिदपि विषयो यो न भुक्तो न मुक्तः,
जातेदानीं विरक्तिस्तव यदि विश रे! ब्रह्म गम्भीरसिन्धुम्।।

हे भाई! इस संसार में, संसार में निःसार कर्मरूपी अधिक प्रबहमान वायु की प्रेरणा से भ्रमण करते हुए और ब्रह्माण्ड के विविध भागों में नये-नये कुत्सित शरीरों को धारण करते और छोड़ते हुए, तुम्हारे द्वारा कौन-कौन सा, किस-किस प्रकार से और कहां-कहां विषय है जो न भोगा गया हो और न भोगकर छोड़ा गया हो। यदि तुम्हारे मन में अब विरक्ति उत्पन्न हुई हो तो हे भाई! ब्रह्मरूपी गम्भीर समुद्र में प्रवेश कर जाओ।।74।।

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां 'ततः किम्'
जाताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम्,
कल्पस्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्।।

शत्रुओं के सिर पर पांव रखा तो क्या हुआ? समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली ऐश्वर्य विभूतियां हुई तो भी क्या हुआ? वैभव-सम्पत्ति से इष्टजनों को सन्तृप्त किया तो भी क्या हुआ? शरीर धारियों के शरीरों द्वारा कल्पान्त तक (बहुत समय तक) जीवित रहा तो भी क्या हुआ? अर्थात् यदि अविनाशी आत्मिक सुख न मिला तो ये सब भौतिक सुख साधनों का एक न एक दिन अभाव होगा तथा मृत्यु का मुख देखना पड़ेगा।।77।।

हे जीव! जब तक वृद्धावस्था नहीं आती, जब तक रोग रूपी अग्नि शरीर रूपी तेरी झोपड़ी को नहीं जलाती, जब तक इन्द्रियों की शक्ति कम नहीं होती, तब अपना आत्महित कर ले। - श्री भावपाहुड़

(28) बारस अणुवेक्खा

एक्कोहं णिम्मओ सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो।।

मैं एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ, इसलिये शुद्ध एकत्व ही उपादेय है, ऐसा संयमीओं को चिन्तवन करना चाहिये।।20।।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाह गोत्ति मण्णंत्तो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमण्णवे बुड्डुं।।

जीव इस संसाररूप महासागर में डूबे हुए अपने आत्मा की चिन्ता तो करता नहीं, परन्तु अन्य-अन्य की चिन्ता करता है तथा ये मेरा है, ये मेरा स्वामी है ऐसा माना करता है।।22।।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिब्बाणं।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण।।

कर्म का आश्रव करने वाली (पुण्य की) क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिये संसार में भटकने के कारणरूप आश्रव को निन्द्य जानो।।59।।

पुब्बुत्तासवभेया णिच्छयणएण णत्थि जीवस्स।
उहयासबणिम्मुक्कं अप्पाणं चिन्तए णिच्चं।।

पूर्वोक्त मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव के भेद कहे वे निश्चयनय से जीव के होते ही नहीं; इसलिये आत्मा का द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आश्रव से रहित चिन्तवन सदा करना चाहिये।।60।।

जीवस्स ण संवरणं परमत्थणयेण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिन्तये णिच्चं।।

परम शुद्ध निश्चयनय से जीव में संवर ही नहीं; इसलिये संवर के

विकल्प रहित आत्मा का शुद्ध भावपूर्वक निरन्तर चिन्तवन करना चाहिये।।65।।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिन्तये णिच्चं।।

जीव निश्चयनय से श्रावकधर्म और मुनिधर्म से भिन्न है। इसलिये माध्यस्थभाव-रागद्वेषरहित परिणामों से शुद्धात्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिये।।82।।

(29) अध्यात्म रहस्य

शुद्धः स्वात्मा यथा साक्षात् क्रियते ज्ञानविग्रहः।
विशिष्टभावना-स्पष्ट-श्रुतात्मा दृष्टिरत्र सा।।

जब जिसके द्वारा शुद्धात्मा ज्ञान शरीरी और विशेष भावना के बल से श्रुत को स्व में स्पष्ट करता है तब साक्षात्-प्रत्यक्षरूप से प्रतिभास होता है इसे अध्यात्म योग शास्त्र में 'दृष्टि' कहा है।

भावार्थ - ध्याति लक्षण बाद शुद्ध स्वआत्मा जिसके द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष देखने में आता है उसका नाम दृष्टि है। ऐसी दृष्टि बाह्य चक्षु द्वारा देखने वाली नहीं परन्तु वह अन्तर्दृष्टि है, जिसमें कोई व्यवधान अर्थात् पर्दा नहीं मात्र शुद्ध आत्मा को साक्षात् देखती है। रागादि विकल्प रहित 'ज्ञानशरीरी' दृष्टि में आता है अर्थात् विशेष भावना के बल से श्रुतज्ञान को स्व में स्पष्ट लीन किया है।।9।।

निज-लक्षणतो लक्ष्यं यद्वानुभवतः सुखम्।
सा संवित्तिर्दृष्टिरात्मा लक्ष्यं दृग्धीश्च लक्षणम्।।

अथवा लक्षण से लक्ष्य का जो भली प्रकार अनुभव करे-जाने-वह संवित्ति 'दृष्टि' कहलाती है। यहां आत्मा लक्ष्य और ज्ञान-दर्शन उसके लक्षण हैं।।10।।

सैव सर्वविकल्पानां दहनी दुःखदायिनाम्।
सैव स्यात्तत्परं ब्रह्म सैव योगिभिरर्थ्यते।।

ऐसे शुद्धात्मा को साक्षात् करने वाली दृष्टि ही समस्त दुखदायी विकल्पों को भस्म करने वाली है और ये ही प्रसिद्ध परम ब्रह्म स्वरूप है तथा ये ही योगियों को उपादेय है।।11।।

तदर्थमेव मथ्येत बुधैः पूर्वं श्रुतार्णवः।
ततश्चामृतमप्यन्यत् वार्तमेव मनीषिणाम्।।

ज्ञानी को प्रथम श्रुतसागर का मंथन करने के लिये कहा, उसका कारण शुद्ध स्व आत्मा का साक्षात्कार इस दृष्टि से होता है अथवा संवित्ति से प्राप्त होता है और जिस मंथन से अमृत (मोक्षसुख की) प्राप्ति होती हैं इसके लिये अन्य सब तो ज्ञानी-मनीषियों की निपुणता अथवा बुद्धि कुशलता है (आगम ज्ञान प्रथम कहा)। शुद्ध स्व आत्मा का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि से अमरत्व अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, इसके लिये मुख्य श्रुत का अभ्यास करने को कहा और यही ज्ञानी की सच्ची बुद्धि और कुशलता है।।12।।

यद्गिराभ्यस्यतः सा स्याद् व्यवहारात्स सद्गुरूः।
स्वात्मैव निश्चयात्तस्यास्तदन्तर्वाग्भवत्वतः।।

जिसकी वाणी द्वारा योग अभ्यासी को ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है उसे व्यवहार से सद्गुरू कहा है और निश्चय से अपना आत्मा ही ऐसी दृष्टि और वाणीरूप सद्गुरू है जिसे अंतरनाद सुनाई देता है।।13।।

अहमेवाहमित्यात्म-ज्ञानादन्यत्र चेतनाम्।
इदमस्मि करोमीदमिदं भुञ्ज इति क्षिये।।

'मैं' मैं ही हूं; इस आत्मज्ञान से भिन्न जो 'ये मैं हूँ, ये मैं करता हूँ, ये मैं भोगता हूँ' इस प्रकार की चेतना-चिन्तवन को हे भाई! तू छोड़।।18।।

यद्यदुल्लिखति स्वान्तं तत्तदस्वतया त्यजेत्।
तथा विकल्पानुदये दोद्योत्यात्माच्छचिन्मये।।

अन्तःकरण में जिस-जिस का विचार होता है उसका चित्र खड़ा होता

है उस-उसको अनात्मदृष्टि द्वारा अर्थात् कि वह आत्मा स्वरूप नहीं ऐसा समझकर त्याग करना चाहिये। इस प्रकार विकल्पों का उदय न हो तो आत्मा स्वच्छ चिन्मयरूप से प्रकाशता है।।20।।

निश्चयात् सत्चिदानन्दाद्वयरूपं तदस्म्यहम्।
ब्रह्मेति सतताभ्यासाल्लीये स्वात्मनि निर्मले।।

निश्चय से, जो सत्-चित्-आनंद के साथ अद्वैत ब्रह्मरूप है ये मैं ही हूँ इस प्रकार निरन्तर अभ्यास ही 'मैं और निर्मल आत्मा' ऐसे आत्मा में लीन होता है।।30।।

यश्चक्रीन्द्राहमिन्द्रादि - भोगिनामपि जातु न।
शश्वत्सन्दोहमानन्दो मामेवाभिव्यनज्मितम्।।

जो आनन्द चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र और धरणेन्द्र को भी कभी प्राप्त नहीं होता ऐसा शाश्वत् आनन्द-सन्दोहक का मैं स्व में ही अनुभव करता हूं।।41।।

स एवाहं स एवाहमिति भावयतो मुहुः।
योगः स्यात् कोऽपि निःशब्दः शुद्धस्वात्मनि यो लय।।

ये शुद्ध स्वरूप मैं ही हूं-ये शुद्ध स्वरूप मैं ही हूं इस प्रकार बारम्बार भावना करने वाला आत्मा अपने को शुद्ध स्वआत्मा में लीन करता है और ऐसे योग को कोई अनिर्वचनीय योग कहते हैं।।57।।

न मे हेयं न चाऽऽदेयं किंचित् परमनिश्चयात्।
तद्यत्नसाध्या वाऽयत्नसाध्या वा सिद्धिरस्तुमे।।

परन्तु परम शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से मेरे लिये न तो कुछ हेयरूप है और न तो कुछ आदेयरूप है। मुझे तो आत्मसिद्धि-स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति की इच्छा है फिर भले वह यत्नसाध्य हो कि अयत्नसाध्य हो अर्थात् उपाय करते मिले या बिना उपाय मिले।।65।।

(30) श्री मन्दालसा स्तोत्र

माता मन्दालसा अपने पुत्रों को जन्म से ही आत्मकल्याण के संस्कार डालती हुई कहती है कि हे पुत्र! तू....

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमाया-परिवर्जितोऽसि।
शरीरभिन्नस्त्यज सर्वचेष्टां, मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।1।।

हे पुत्र! आठ कर्मों का नाश करने से तू सिद्ध है, ज्ञानस्वरूप होने से तू बुद्ध है, तू अंजन रहित है, तथा संसार माया से तू पर है। तू देह से भिन्न है, अर्थात् तेरा स्वरूप चैतन्यरूप है, इसलिये देहाश्रित सर्व क्रियाओं को तू छोड़। तेरी माता मन्दालसा के ये वचन हे पुत्र! तू ग्रहण कर हृदय में उतार।

ज्ञाताऽसि द्रष्टासि परात्मरूपो, अखंडरूपोऽसि गुणालयोऽसि।
जितेन्द्रियस्त्वं त्यज मानमुद्रां, मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।2।।

हे पुत्र! तू अखण्ड ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञाता है, तू अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप है, परमात्मा का जो अनंत स्वरूप ये ही तू है। तू अखण्ड है-खण्ड-खण्ड ज्ञान वह तेरा स्वरूप नहीं, तू गुणों का भण्डार है, तू गुणों का आश्रय स्थान है, तू पाँचों इन्द्रियों को जीतने वाला ऐसा जितेन्द्रिय है; पर में अहंबुद्धि रूप-मान का त्याग कर तू तेरी माता मन्दालसा के ये हितकर वचन हे पुत्र! तू ध्यान में ले स्वीकार कर।

शान्तोऽसि दान्तोऽसि विनाशहीनः सिद्धस्वरूपोऽसि कलंकमुक्तः।
ज्योतिः स्वरूपोऽसि विमुञ्च मायां मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।3।।

हे पुत्र! सर्व कषायों से रहित ऐसा तू वीतराग स्वरूप शान्त है, पंचेन्द्रिय विषयों के दमन करने वाला तू दान्त है, विनाशरहित अविनाशी है, तू मृत्यु से पर है, स्वरूप से तू सिद्ध जैसा परमात्मस्वरूप है, तू कलंकरहित ऐसा निष्कलंक है-शुद्ध निर्मल तेरा स्वरूप है, तू ज्ञानज्योतिर्मय है। हे पुत्र! तू मायाजाल रूपी विकल्पों को छोड़; तेरी माता मन्दालसा तुझे यह जो बोध करती है ऐसा तू प्रसिद्ध बन।

एकोऽसि मुक्तोऽसि चिदात्मकोऽसि चिद्रूपभावोऽसि चिरन्तनोऽसि।
अलक्ष्य भावो जहि देहमोहम् मन्दालसा वाक्यमुपास्स्व पुत्र।।4।।

हे पुत्र! एकत्व तेरा स्वरूप है, तू किसी के आश्रित नहीं, संसारबंधनों से मुक्त है, चिद्रूप तेरा स्वभाव है, तू चिरन्तन है, जिससे तेरा स्वरूप सामान्य जीवों के लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसलिये देहात्म बुद्धि का त्याग कर, ये लक्ष तेरी माता मन्दालसा तुझसे कह रही है उसे तू ग्रहण कर।

निष्कामधामासि विकर्मरूपो रत्नत्रयात्मासि परं पवित्रं।
बेत्तासि चेतोऽसि विमुञ्च कामं मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।5।।

हे पुत्र! सर्व इच्छा रहित निष्काम होने से तू तेजस्वी है, कर्मों का नाश-अभाव होने से तू विकर्मा है-कर्म तेरा स्वभाव नहीं, तेरा स्वरूप तो सम्यग्दर्शन--ज्ञान-चारित्र की ऐक्यता ये है। तू परम शुद्ध-पवित्र है, तू सर्वज्ञ है, त्रिकालवर्ती भावों का ज्ञाता है, तेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, इसलिये कामनाओं का तू नाश कर, त्याग कर, तेरी माता की शिक्षा ध्यान पूर्वक हृदय में उतार।

प्रमादमुक्तोऽसि सुनिर्मलोऽसि अनंतबोधादिचतुष्टयोऽसि।
ब्रह्मासि रक्ष स्वचिदात्मरूपम् मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।6।।

हे पुत्र! प्रमादरहित तू अप्रमत्त है, तू रागद्वेष रहित है, तू निर्मल स्वभावी है, अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये तेरा स्वरूप है, तू ब्रह्मा है, शुद्धात्मा है, देहादिस्वरूप तू नहीं, इसलिये तू अपने चैतन्यस्वरूप की रक्षा कर-इस प्रकार तेरी माता मन्दालसा तुझे पालने में ही तुझे जाग्रत कर रही है, समझा रही है, उसे तू ग्रहण कर।।6।।

कैवल्यभावोऽसि निवृत्तयोगो, निरामयोज्ञानसमस्ततत्त्वः।
परात्मवृत्तिस्स्मर चित्स्वरूपं मन्दालसावाक्यमुपास्स्वं पुत्र।।7।।

हे पुत्र! तू केवलज्ञान स्वभावी है, तू मन-वचन-काय की चंचलता रहित निवृत्तयोगी है, तू निरामय अर्थात् रोगरहित है-भावरोग से मुक्त है,

संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञाता है, तू परमात्म-तत्त्व की वृत्ति अर्थात् आत्मा पर से भिन्न है, ये भावनारूप विज्ञान द्वारा अपने चैतन्यस्वरूप का चिन्तवन कर-उसका स्मरण कर ये बोध तुझे मेरी माता मन्दालसा दे रही है वह विचार।

चैतन्यरूपोऽसि विमुक्तमारोऽभावादिकर्मासि समग्रवेदी।
ध्याय प्रकामं परमात्मरूपम् मन्दालसावाक्यमुपास्स्व पुत्र।।8।।

हे पुत्र! स्वभाव से तू ज्ञान-दर्शनमय चेतनारूप है, कामवासना से मुक्त है, तू भावकर्म से रहित है, समस्त वस्तुतत्त्व का ज्ञाता है, इसलिये तू अपने निजस्वरूप परमात्म तत्त्व का एकाग्रता पूर्वक ध्यान कर-ऐसे अपनी माता मन्दालसा के वचनों को अंगीकार कर।

इत्यष्टकैर्या पुरतस्तनूजान्, विबोध्य नाथं नरनाथपूज्यम्।
प्राबृज्य भीता भवभोगभावात् स्वकैस्तदासौ सुगतिं प्रपेदे।।9।।

इस प्रकार माता ने पुत्र को जन्म संस्कार से ही आठ श्लोकों द्वारा पुरूषोत्तम पुरूष तुल्य पूजनीक ऐसे भगवंत का ज्ञान कराया, जिसे विषम ऐसे सांसारिक दुखों से भयभीत होकर तथा भोग्य पदार्थों से उदासीन होकर रानी के छह पुत्रों ने जिनदीक्षा ग्रहण करके स्वात्महित सिद्ध किया अर्थात् माता के सुसंस्कार से पुत्र सिद्धगति को प्राप्त हुए।

इत्यष्टकं पापपराङ्मुखो यो मन्दालसाया भणति प्रमोदात्।
स सद्गतिं श्री शुभचंद्रभासि संप्राप्य निर्वाणगतिं प्रपद्येत्।।

इस प्रकार पाप से पराङ्मुख होकर मन्दालसा रानी के इस अष्टक स्तोत्र का प्रसन्नता पूर्वक जो स्वाध्याय करता है वह जीव सद्गति को प्राप्त करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है, ऐसा श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं।

(31) गोम्मटसार जीवकाण्ड

मिच्छंतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, मुहुरं खु रसं जहां जरिदो।।

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला हो जाता है। उसको जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार यथार्थ धर्म भी नहीं रूचता।।17।।

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरूणियोगा।।

सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरू के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

भावार्थ :- स्वयं के अज्ञानवश "अरिहंत देव का ऐसा ही उपदेश है" ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहंत का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है।।27।। परन्तु-

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हबइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।

गणधरादि कथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादिक के द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह उसी काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।।28।।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो।।

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरति सम्यग्दृष्टि है।।29।।

एगणिगोदसरीरे, जीवा दब्बप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सब्वेणविदीदकालेण।।

समस्त सिद्धरसि का और सम्पूर्ण अतीत काल के समयों का जितना प्रमाण है द्रव्य की अपेक्षा से उनसे अनन्तगुणें जीव एक निगोदसरीर में रहते हैं।।196।।

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंक सुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।।

ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसों की पर्याय अभी तक प्राप्त ही नहीं की और जो निगोद अवस्था में होने वाले दुलेश्यारूप परिणामों से अत्यंत अभिभूत रहने के कारण निगोद स्थान को कभी नहीं छोड़ते।।197।।

जाणइ तिकालविसए, दब्बगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं वेंति।।

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत भविष्यत् वर्तमान कालसंबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।।299।।

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणिहोंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं।।

ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।।369।।

पहिया जे छप्पुरिसा, परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरियरूक्खमेगं, पेक्खिता ते विचितंति।।
णिम्मूल खंध साहुबसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं, मणेण वयणं हवे कम्मं।।

कृष्ण आदि छह लेश्या वाले कोई छह पथिक वन के मध्य में मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से पूर्ण किसी वृक्ष को देखकर अपने-अपने मन में इस प्रकार विचार करते हैं और उसके अनुसार वचन कहते हैं। कृष्णलेश्या वाला विचार

करता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर इसके फलों का भक्षण करूंगा। नील लेश्या वाला विचारता है और कहता है मैं इस वृक्ष को स्कन्ध से काटकर इसके फल खाऊंगा। कापोत लेश्या वाला कहता है मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊंगा। पीत लेश्या वाला कहता है मैं इस वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊंगा। पद्मलेश्या वाला कहता है कि मैं इस वृक्ष के फलों को तोड़कर खाऊंगा तथा शुक्ल लेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष से स्वयं टूटकर नीचे पड़े हुए फलों को ही खाऊंगा। इस तरह मन पूर्वक वचनादि की प्रवृत्ति होती है वह लेश्याकर्म है।।507-508।।

छह लेश्या का स्वरूप

(1) तीव्र क्रोध करने वाला हो, बैर को न छोड़े, युद्ध करने का (लड़ने का) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के भी वश न हो ये सब लक्षण 'कृष्णलेश्या' वाले जीव के हैं।।509।।

(2) काम करने में मन्द हो अथवास्वछन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य से रहित हो, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के विषयों में लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्राय को सहसा न जान सकें तथा जो अति निद्रालु और दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो और धनधान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो, ये **'नील लेश्या'** वाले के चिन्ह है।।510-511।।

(3) दूसरे के ऊपर क्रोध करना, दूसरे की निन्दा करना, अनेक प्रकार से दूसरों को दुख देना अथवा औरों से बैर करना, अधिकतर शोकाकुल रहना तथा भयग्रस्त रहना या हो जाना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी नाना प्रकार से प्रशंसा करना, दूसरे के ऊपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को भी मानना, स्तुति करने वाले पर सन्तुष्ट हो जाना, अपनी हानि वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करने वाले को खूब धन दे डालना, अपने कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना न करना, ये सब **'कापोत लेश्या'** वाले के चिन्ह हैं।।512-513-514।।

(4) अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी हो, दया दान में तत्पर हो, मन-वचन-काया के विषय में कोमल परिणामी हो ये '**पीत लेश्या**' वाले के चिन्ह हैं।।515।।

(5) दान देने वाला हो, भद्रपरिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, कष्टरूप तथा अनिष्टरूप उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनिजन, गुरूजन आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो ये सब '**पद्मलेश्या**' वाले के लक्षण हैं।।516।।

(6) पक्षपात न करना, निदान को न करना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि में स्नेह रहित होना, ये सब '**शुक्ल लेश्या**' वाले के लक्षण हैं।।517।।

चदुगतिभब्वो सण्णी, पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो, सलद्धिगो सम्मममुबगमई।।

जो जीव चार गतियों में से किसी एक गति का धारक तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धि-सातादि के बन्ध के योग्य परिणति से युक्त, जागृत-स्त्यान गृद्धि आदि तीन निद्राओं से रहित, साकार उपयोगयुक्त और शुभ लेश्या का धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामों का धारक होता है वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।।652।।

चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगवेधण होइ सम्मत्तं।
अणुवदमहब्वदाइं, ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।।

चारों गति संबंधी आयुकर्म का बन्ध हो जाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु देवायु को छोड़कर शेष आयु का बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते।।653।।

णिक्खेवे एयत्थे, णयप्पमाणे णिरूत्ति अणियोगे।
मग्गइ बीसं भेयं, सो जाणइ अप्पसब्भावं।।

जो भव्य उक्त गुणस्थानादिक बीस भेदों को निक्षेप एकार्थ नय, प्रमाण, निरूक्ति, अनुयोग आदि के द्वारा जान लेता है वही आत्मसद्भाव को समझता है।।733।।

(32) पंचास्तिकाय संग्रह

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।।8।।

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो वा दोसो वा।।9।।

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कबालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।।30।।

संसारगत जे जीव छे परिणाम तेने थाय छे।
परिणामथी कर्मो, करमथी गमन गतिमा थाय हो।।
गति प्राप्तने तन थाय, तनथी इन्द्रियों बणी थाय छे।
येनाथी विषय ग्रहाय, रागद्वेष तेथी थाय है।।
ये रीत भाव अनादिनिधन, अनादिसांत थया करे।
संसारचक्र विषै जीवों ने ऐम जिनदेवो कहे।।

जो वास्तव में संसारस्थित जीव है उससे परिणाम होता है, परिणाम से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है। गति प्राप्त को देह होती है, देह से इन्द्रियां होती हैं, इन्द्रियों से विषयग्रहण और विषयग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है। ऐसे भाव संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्त अथवा अनादि सान्त होते रहते हैं-ऐसा जिनवरों ने कहा है।।128-29-30।।

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसयपरदो हवदि जीवो।।
जिनवर प्रमुखनी भक्ति द्वारा मोक्षनी आशा धरे।
अज्ञानथी जो ज्ञानी जीव, जो परसमयरत तेह छे।।

'अर्हंतादि के प्रति भक्ति-अनुराग वाली मंदबुद्धि से भी क्रमशः मोक्ष होता है' इस प्रकार यदि अज्ञान के कारण ज्ञानी को भी झुकाव वर्तता है, तो तब तक वह भी सूक्ष्म परसमयरत है।।165।।

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाण भक्ति संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि।।
जिन-सिद्ध-प्रवचन-चैत्य-मुनिगण ज्ञानमी भक्ति करे।
ते पुण्यबंध लहे घणो, पण कर्मणो क्षयनव करे।।

अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।।166।।

जस्स हि दएणुमेत्तं वा परदब्बम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सब्बागम धरो वि।।
अणुमात्र जेने हृदय मां परद्रव्य प्रत्ये राग छे।
हो सर्व आगम धर भले, जाणे नहीं स्वक-समयने।।

जिसे परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग हृदय में वर्तता है वह, भले सर्व आगमधर हो तथापि, स्वकीय समय को नहीं जानता।।167।।

तम्हा णिब्बुदि कामो णिस्संगो णिम्ममोय हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिब्बाणं तेण पप्पोदि।।
ते कारणे मोक्षेक्षु जीव असंग ने निर्मम बनी।
सिद्धो तणी भक्ति करे, उपलब्धि जेथी मोक्षनी।।

इसलिये मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति (-शुद्धात्मद्रव्य में स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति) करता है, इसलिये वह निर्वाण को प्राप्त करता है।।169।।

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिब्बाणं संजमतवसंपउत्तस्स।।
संयम तथा तपयुक्त ने पण दूरतर निर्वाण छे।
सूत्रो, पदार्थो, जिनवरों प्रति चित्तमां रूचि जो रहे।।

संयम तप संयुक्त होने पर भी नवपदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी

बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रूचि वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर है।।170।।

तम्हा णिब्बुदिकामो रागं सब्बत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण बीदरागो भवियो भवसायरं तरदि।।
तेथी न करवो राग ज़रीये क्यांय पण मोक्षेच्छुये।
वीतराग थइने ये रीते ते भव्य भवसागर तरे।।

इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित भी राग न करो; ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है।।172।।

(33) समयसार

वंदित्तु सब्बसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकवली भणिदं।।
ध्रुव अचल अरू अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को।
मैं बंद श्रुतकेवलिकथित, कहूं समयप्राभृत को अहो।।1।।

"वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं,-जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं,और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति-मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवत्व का अवलंबन करती है। चारों गतियां परनिमित्त से होती हैं इसलिये ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं।।1।।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सब्बत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।3।।
एकत्व-निश्चय-गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।
उससे बने बंधनकथा, जु विरोधिनी एकत्व में।।

सुदपरिचिदाणुभूदा सब्बस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुबलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधन की कथा।
परसे जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना।।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।5।।
दर्शाउ एक विभक्त को, आत्मातने निज विभव से।
दर्शाउं तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने।।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।6।।
नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरू, जो ज्ञात वो तो वो हि है।।

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।11।।
व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सदृष्टि निश्चय होय है।।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।13।।
भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रू निर्जरा।
आश्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना।।

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।
अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरू, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जान जो।।14।।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेशसंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो।।15।।

दंसणणाण चरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाणि तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।
दर्शनसहित नित ज्ञान अरू, चारित्र साधु सेवीये।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में।।16।।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।17।।
एवं हि जीवराया णादब्बो तह य सद्दहे दब्बो।
अणुचरि दब्बो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।18।।
ज्यों पुरूष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे।।
जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से।।

सब्बे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदब्बं।।
सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है।।34।।

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।
कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समयके, मोहनिर्ममता कहे।।36।।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूबी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं वि।।

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूं यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे।।38।।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।
जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से।।49।।

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो णवि रसो णविय फासो।
ण वि रूपं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा।।
नहिं राग जीव के द्वेष नहिं, अरू मोह जीव के हैं नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरू नोकर्म भी जीव के नहीं।।51।।
नहीं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक हैं नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी है नहीं।।52।।
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रू, बंधस्थान भी हैं नहीं।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरू स्थान मार्गणा के नहीं।।53।।

स्थितिबंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं।।54।।

नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही।।55।।

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।
अशुचिपना, विपरीतता ये आश्रवों का जान के।
अरू दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे।।72।।

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सब्वे एदे खयं णेमि।।
मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रू, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूं स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूं।।73।।

जीवणिवद्धा एदे अध्रुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।
ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं।
ये दुःख, दुखफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे।।74।।

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि बवदेसं।
सब्बणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।
सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है।।144।।

कम्ममसुहं कुसीलं सुह कम्मं, चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।
है कर्म अशुभ कुशील अरू जानो सुशील शुभकर्म को।
किस रीति होय सुशील जो संसार में दाखिल करे।।145।।

सोवण्णियं वि णियलं बंधदि कालायसं वि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।
ज्यों लोह की त्यों कनककी जंजीर जकड़े पुरूष को।
इस रीति से शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीव को।।146।।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसम्पत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्जा।।
जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ती लहे।
ये जिनप्रभु उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से।।150।।

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू।।
बदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।।
परमार्थ में नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरू, व्रत बाल जिनवरने कहें।।152।।

व्रत नियम को धारे भले, तपशील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ति नहिं करे।।153।।

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता।।
परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतु मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का।।154।।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।
विद्वान जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ आश्रित संत के।।156।।

शुद्धं तु बियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।
जो शुद्ध जाने आत्म को, वह शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्धजाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।।186।।

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।
अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्वआगम धर भले ही, जानता नहिं आत्म को।।201।।

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।
नहिं जानता जहं आत्म को, अनआत्म भी नहिं जानता।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीव को नहिं जानता?।।202।।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।
इसमें सदा रतिवंत वन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि वन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।206।।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।
छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे।।209।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।
अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रह पुण्य का वो, पुण्य का ज्ञायक रहे।।210।।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।
चिन्मूर्ति मनरथ पंथ में, विद्यारथारूढ़ घूमता।
जिनराज ज्ञान प्रभावकर सम्यक्तदृष्टि जानना।।236।।

अज्झबसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।
मारो-न मारो जीव को, है बंध अध्यवसान से।
यह आतमा के बंध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं।।262।।

एवं बवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मणिणो पावंति णिब्वाणं।।
व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहि से।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करे।।272।।

आदा खु मज्झ णाणं आदा में दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा में संबरो जोगो।।
मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरू, मुझ आत्म संवर योग है।।277।।

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।
ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को।।320।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदब्वेसु।।
तू स्थाय निज को मोक्षपथ में, ध्या अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में।।412।।

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।
यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रू तत्व से।
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे।।415।।

47 शक्तियाँ (आ. अमृतचन्द्र स्वामी)

1. जीवत्वशक्ति, 2. चितिशक्ति, 3. दृशिशक्ति, 4. ज्ञानशक्ति, 5. सुखशक्ति, 6. वीर्यशक्ति, 7. प्रभुत्वशक्ति, 8. विभुत्वशक्ति, 9. सर्वदर्शित्व शक्ति, 10. सर्वज्ञत्वशक्ति, 11. स्वच्छत्वशक्ति, 12. प्रकाशशक्ति, 13. असंकुचित विकाशत्वशक्ति, 14. अकार्यकारणत्वशक्ति, 15. परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति, 16. त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति, 17. अगुरू लघुत्वशक्ति,18. उत्पादव्यय ध्रुवत्व शक्ति, 19. परिणामशक्ति, 20. अमूर्तत्वशक्ति, 21. अकर्तृत्वशक्ति, 22. अभोक्तृत्व शक्ति, 23. निष्क्रियत्वशक्ति, 24. नियतप्रदेशत्व शक्ति, 25. स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति, 26. साधारण–असाधारण–साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति, 27. अनन्त धर्मत्व शक्ति, 28. विरूद्धधर्मत्व शक्ति, 29. तत्वशक्ति, 30. अतत्वशक्ति, 31. एकत्वशक्ति, 32. अनेकत्वशक्ति, 33. भावशक्ति, 34. अभावशक्ति, 35. भावाभावशक्ति, 36. अभावभावशक्ति, 37. भावभावशक्ति, 38.अभावाभाव शक्ति, 39. भावशक्ति 40. क्रियाशक्ति, 41. कर्मशक्ति, 42. कर्तृत्वशक्ति, 43. करणशक्ति, 44. सम्प्रदानशक्ति, 45. अपादानशक्ति, 46. अधिकरणशक्ति, 47. सम्बन्धशक्ति।

(34) समयसार (कलश)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।1।।
अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति।।7।।

तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है वह प्रगट होती है कि जो नवतत्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिछमो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।9।।

आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन समस्त भेदों को गौण करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहां चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति।।

शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव-ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है और वह, आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है, आदि अन्त से रहित है, सर्व भेदभावों से रहित एकाकार है, जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है।।10।।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्।।22।।

हे जगत के जीवो! अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो और रसिक जनों को रूचिकर, उदय हुआ जो ज्ञान उसको आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में आत्मा वास्तव में किसी प्रकार

भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।।22।।

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहुर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।23।।

आचार्य सम्बोधन करते हैं कि हे भाई! तू किसी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्व का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न इस शरीरादि मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थ –यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्‌गल द्रव्य से भिन्न होकर अपने शुद्धात्मा का अनुभव करे, परीषह आने पर न डिगे, तो घातिया कर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है। तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है।।23।।

मंज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका,
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ।।32।।

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, इसलिये अब समस्त लोक उसके शांत रस में, एक साथ ही, अत्यन्त मग्न हो जाओ जो शान्तरस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्यषण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः।।34।।

हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में, जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा,
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी,
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।37।।

जो वर्णादिक अथवा रागमोहादिक भाव कहे वे सब ही इस पुरूष (आत्मा) से भिन्न हैं इसलिये अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को यह सब दिखाई नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है-केवल एक चैतन्य भाव स्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।51।।

जो परिणमित होता है सो कर्ता है, जो परिणाम है सो कर्म है, और जो परिणति है सो क्रिया है, यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः।।52।।

वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते

हैं और एक की ही परिणति क्रिया होती है, क्योंकि अनेक रूप होने पर भी एक वस्तु है, भेद नहीं।

नौभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा।।53।।

दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्।।54।।

एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकबारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः।।55।।

इस जगत में मोही जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकार रूप अज्ञानांधकार-जो अत्यंत दुर्निवार है वह अनादि संसार से चला आ रहा है। अहो! परमार्थनय का ग्रहण करने पर यदि वह एक बार नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानधन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो सकता है?

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।56।।

आत्मा तो सदा अपने भावों को करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है, क्योंकि जो अपने भाव हैं सो तो आप ही है और जो पर के भाव

हैं सो पर ही हैं।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।62।।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा परभाव का कर्ता है ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह है।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति।।69।।

जो नय पक्षपात को छोड़कर स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं वे ही जिनका चित्त विकल्प जाल से रहित शान्त हो गया है ऐसे होते हुए, साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।70।।

जीव कर्मों से बंधा है ऐसा एक नय का पक्ष है और नहीं बंधा है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, जो-तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।130।।

यह भेदविज्ञान अच्छिन्न धारा से तब तक माना चाहिये जब तक परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही प्रतिष्ठित-स्थिर हो जाये।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।131।।

जो कोई सिद्ध हुऐ हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं वे उसी के अभाव से बंधे हैं।।

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते।।134।।

वास्तव में वह सामर्थ्य ज्ञान की ही है अथवा विराग की है कि कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।

''यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता''-ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करें तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित है।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।138।।

हे अन्ध प्राणियो! अनादि संसार से लेकर पर्याय, पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह पद-स्थान अपद है-अपद है, ऐसा तुम समझो। इस ओर आओ-इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो) तुम्हारा पद यह है-यह है, जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु निजरस की अतिशयता के कारण स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है अविनाशी है।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।139।।

वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है जो कि विपत्तियों का अपद और जिसके आगे अन्य पद अपद ही भासित होते हैं।

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नांश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि।।142।।

कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वमेव क्लेशपाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसे इस ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते।

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्र चिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।144।।

यह (ज्ञानी) स्वयं ही अचिन्त्य शक्ति वाला देव है, और चिन्मात्र चिन्तामणि है, इसलिये जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं-ऐसा स्वरूप होने से ज्ञानी दूसरे के परिग्रह से क्या करेगा?

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्त्तुं क्षमंते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमपि भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं,
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि।।154।।

जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़कर स्वयं अपने को जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए ज्ञान से च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवित दुःख सौख्यम्।।168।।

इस जगत में जीवों के मरण, जीवित, दुख, सुख–सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होता है, दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुख, सुख को करता है ऐसा जो मानता है वह तो अज्ञान है।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति।।169।।

इस अज्ञान को प्राप्त करके जो पुरूष पर से पर के मरण, जीवन, दुख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरूष जो कि इस प्रकार अहंकार रस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं–वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रसादः।।189।।

(हे भाई!), जहां प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहां अप्रतिक्रमण अमृत कहां से हो सकता है? तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? निष्प्रमाद होता हुआ ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता?

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्।।199।।

जो अज्ञान अन्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों तथापि सामान्य जनों की भांति उनकी भी मुक्ति नहीं होती।

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः।।200।।

परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी सम्बन्ध नहीं है; इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहां से हो सकता है?

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानधनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ।।245।।

आनन्दमय विज्ञानधन को प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अक्षयचक्षु पूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- यह समयप्राभृत जगत को अक्षय अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है, उसी प्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभव गोचर दिखलाता है।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरस विसरपूर्ण ज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्नखलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति।।244।।

बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ; यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलबल्गन्, ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तु मात्रः।।271।।

जो यह ज्ञानमात्र भाव में हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिये; (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय·वस्तुमात्र जानना चाहिये।

भावार्थ-ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगे हैं। वे ज्ञान तरंगे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है और स्वयं ही अपना जानने वाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला पुरूष अनुभव करता है।

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो,
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ।।274।।

एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर शान्ति है, एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करती है, एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। ऐसी आत्मा की अद्भुत से भी अद्भुत स्वभाव महिमा जयवन्त वर्तती है।

अध्यात्म शास्त्र रूपी अमृत समुद्र में से मैंने जो संयम रूपी रत्नमाला बाहर निकाली है वह (रत्नमाला) मुक्तिवधू के वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण बनी है। - *श्री पद्मप्रभमलधारिदेव : नियमसार टीका कलश-180*

(35) पाहुड़ दोहा

वरू विसु विसहरू वरू जलणु तरू सेविउ वणवासु।
णउ जिणधम्मपरम्मुहउ मित्थतिय सहु वासु।।20।।

अर्थ :- विष भला, विषधर भी भला, अग्नि या वनवास का सेवन भी अच्छा, परन्तु जिनधर्म से विमुख ऐसे मिथ्यादृष्टियों का सहवास अच्छा नहीं।

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स।।49।।
आराहिज्जइ देउं परमेसरू कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ।।50।।

अर्थ :- मन तो परमेश्वर में मिल गया और परमेश्वर मन से मिल गया; दोनों एक रस-समरस हो रहे हैं, तब मैं पूजन सामग्री किसको चढ़ाऊं?

रे जीव! तू देव का आराधन करता है, परन्तु तेरा परमेश्वर कहां चला गया? जो शिव-कल्याण रूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है, उसको तू कैसे भूल गया?

अप्पा केवलणाणमउ हियडइ णिवसई जासु।
तिहुयणि अच्छइ मोक्कलउ पाउ ण लग्गइ तासु।।59।।

अर्थ :- केवलज्ञानमय आत्मा जिसके हृदय में निवास करता है, वह तीन लोक में मुक्त रहता है और उसे कोई पाप नहीं लगता।

अप्पा दंसण केवलु वि अण्णु सयलु ववहारू।
एक्कु सु जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारू।।68।।

अर्थ :- केवल आत्मदर्शन ही परमार्थ है और सब व्यवहार है। तीन लोक का जो सार है-ऐसे एक इस परमार्थ को ही योगी ध्याते हैं।

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ जो परदव्वि रमंति।
अण्णु कि मिच्छादिट्ठियहं मत्थइं सिंगइं होंति।।70।।

अर्थ :- जगतिलक आत्मा को छोड़कर जो परद्रव्य में रमण करते हैं... तो क्या मिथ्यादृष्टियों के माथे पर सींग होते होंगे?

जो विद्वान आत्मा का व्याख्यान तो करते हैं परन्तु अपना चित्त उसमें नहीं लगाते तो अनाज के कणों से रहित बहुत सा पयाल संग्रह किया है।।84।।

हे वत्स! बहुत पढ़ने से क्या है? तू ऐसी ज्ञान चिनगारी प्रगटाना सीख ले–जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप को क्षणमात्र में भस्म कर दे।।87।।

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि।।98।।

अर्थ :- श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा है और हम मंदबुद्धि हैं, अतः केवल इतना ही सीखना योग्य है कि जिससे जन्म–मरण का क्षय हो।

एक तो स्वयं मार्ग को जानते नहीं और दूसरे किसी से पूछते भी नहीं, ऐसे मनुष्य वन–जंगल तथा पहाड़ों में भटक रहे हैं, उनको तू देख।।114।।

जिसके जीते जी पांच इन्द्रिय सहित मन मर गया उसको मुक्त ही जानो; निर्वाणपथ उसने प्राप्त कर लिया।।123।।

जिसने देह से भिन्न निज परमार्थतत्व को नहीं जाना, वह अन्धा दूसरे अन्धे को मुक्तिपथ कैसे दिखलायेगा।।128।।

सुगुरू की महान छत्रछाया पाकर भी हे जीव! तू सकल काल संताप को ही प्राप्त हुआ। परमात्मा निजदेह में बसते हुए भी तूने पत्थर के ऊपर पानी ढोला।।130।।

मुंड मुंडाने वालों में श्रेष्ठ हे मुंडका! तूने सिर का तो मुंडन किया, परन्तु चित्त को न मुंडा। जिसने चित्त का मुंडन किया, उसने संसार का खंडन कर डाला।।131।।

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहेण य णरयं तं पुण्ण अम्ह मा होउ।।

अर्थ :- पुण्य से विभव मिलता है, विभव से मद होता है, मद से मतिमोह होता है और मतिमोह से नरक होता है, ऐसा पुण्य हमें न हो।।138।।

मैं जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ सर्वत्र आत्मा ही दिखता है, तब फिर मैं किसकी समाधि करूं और किसको पूजूं? छूत-अछूत कहकर किसका तिरस्कार करूँ? हर्ष या क्लेश किसके साथ करूं? और सम्मान किसका करूँ?।।139।।

हे जिनवर! जब तक मैंने देह में रहे हुए 'जिन' को न जाना, तब तक तुझे नमस्कार किया; परन्तु जब देह में हो रहे हुए 'जिन' को जान लिया, तब फिर कौन किसको नमस्कार करे?।।141।।

(1) हे जीव! लोग तेरे को 'हठीला हठीला' कहते हैं तो भले कहो, किन्तु हे हठी! तू क्षोभ मत करना, तू मोह को उखाड़कर सिद्धि-महापुरी में चले जाना।

(2) छेला (पागल) लोग तुझे भी पागल कहें तो इसी से तू क्षुब्ध मत होना। लोग कुछ भी कहें तू तो मोह को उखाड़कर महान सिद्धि नगरी में प्रवेश करना।।143।।

हे हताश मधुकर! कल्पवृक्ष की मंजरी का सुगंध युक्त रस चख करके भी अब तू गंध रहित पलाश के ऊपर क्यों भ्रमता-फिरता है? अरे! ऐसा करते हुए तेरा हृदय फट क्यों नहीं गया? और तू मर क्यों नहीं गया?।।112।।

अरे रे! अक्षय निरामय परमगति की प्राप्ति अभी तक न हुई। मन की भ्रान्ति अभी तक न मिटी। और ऐसे ही दिन बीते जा रहे हैं।।169।।

हे योगी! जिस पद को देखने के लिये तू अनेक तीर्थों में भ्रमण करता फिरता है, वह शिवपद भी तेरे साथ ही साथ घूमता रहा, फिर भी तू उसे न पा सका।।179।।

देहरूपी देवालय में तू स्वयं शिव बस रहा है और तू उसे अन्य देवल में ढूढता फिरता है। अरे! सिद्धप्रभु भिक्षा के लिये भ्रमण कर रहा है यह देखकर मुझे हंसी आती है।।186।।

अरे अजान! दो पथ में गमन नहीं हो सकता, दो मुख वाली सुई से कथरी नहीं सिली जाती; वैसे इन्द्रिय सुख और मोक्षसुख – ये दोनों बातें एक साथ नहीं बनती।।213।।

अरे! उस घर का भोजन रहने दो कि जहाँ सिद्ध का अवर्णवाद होता हो। ऐसे जीवों के साथ जयकार करने से भी सम्यक्त्व मलिन होता है।।211।।

विनय का महत्व

जो विनय रहित है उसका आगम अभ्यास व्यर्थ है। विनय शास्त्र अभ्यास का फल है। पुण्योदयजन्य सांसारिक सुख तथा मोक्ष सुख विनय का ही फल है अथवा गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षाकल्याणक, केवलकल्याणक और मोक्ष कल्याणक–ऐसे पाँच कल्याण जीव को विनय से ही प्राप्त होते हैं। *–आ. कुन्दकुन्ददेव : मूलाचार पंचाचार अधिकार, गाथा–211*

ऐसे जिनशासन को नमस्कार हो...

वह जिनागम सर्वप्राणियों का रक्षण करने वाला है उसका जिन जीवों ने आश्रय लिया है वे अनंत संसार सागर को उलंघकर मुक्त हुए हैं। ऐसा यह जिनशासन सदा वृद्धिंगत हो। इस जिनशासन को मैं नमस्कार करता हूँ।

–आ. कुन्दकुन्दस्वामी : मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार, गाथा–11

(36) भव्यामृत शतक

ऐसे जीव संसार में उभय भ्रष्ट हैं कि जो स्वयं अपने आत्मतत्व को नहीं समझते, तथा आत्मा के जानने वाले अन्य सज्जनों की निन्दा करके आनन्द मानते हैं।।13।।

हे जीव! शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं-ऐसा जानकर तुम कभी भी शुद्धात्मतत्त्व की भावना को मत छोड़ो। वास्तव में शुद्धनय का सेवन करने वाला जीव सदैव शुद्ध ही रहता है।।16।।

जब उत्तम कुल, उत्तम क्षेत्र, उत्तम काल, साधुजनों का सत्संग तथा तत्त्व समझने की उत्तम रूचि हो एवं ज्ञान-आचरण तथा संहनन भी उत्तम हो, तब समझना चाहिये कि ये सब आत्मभावना की जागृति का फल है।।39।।

जैसे घास के तिनके की वाड़ मदमाते हाथी को नहीं रोक सकती, वैसे जिसने अकिंचन आत्मा का स्वाद चख लिया है-ऐसे मुमुक्षु को बाह्य परिग्रहों की बाड़ आत्मसाधना में विघ्न नहीं कर सकती।।41।।

अधिक क्या कहें? दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकार के भाव, बारह प्रकार की अध्रुव आदि वैराग्य अनुप्रेक्षायें एवं अनेक प्रकार के परिषहों का विजय- ये सभी तभी संभव हैं कि जब निजात्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ हो, इसके बिना ये सब असंभव जानो।।43।।

निज आत्मतत्त्व का स्वाद (अनुभव) सो सम्यग्दर्शन है; आत्मस्वरूप का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में दृढ़ स्थिति सो सम्यक्चारित्र है; ऐसे रत्नत्रयवंत जीव तीनों लोक में सदा पूज्य हैं।।48।।

परमात्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्र के मात्र एक ही वचन से भी जो सारभूत आत्मतत्त्व को जान लेता है, वह तो शास्त्र-समुद्र का पार पा जावेगा; किन्तु अन्य लोग आत्मज्ञान के बिना दिन-रात पढ़कर थक जावें तो भी शास्त्र का या भव का पार नहीं पा सकते।।49।।

चाहे कोई 11 अंग तक के शास्त्र प्रतिदिन पढ़ लिया करे, किन्तु यदि आत्मतत्त्व का बोध नहीं करता तथा जिनदेव समान निजाकार को अपने में नहीं देखता, तो वह जीव कल्याण प्राप्ति के लिये योग्य नहीं है।।52।।

शब्द शास्त्र का विस्तार तो अपार है और यदि आयु भी अपार हो, तब तो उन सबका सुविचार कर्त्तव्य है; परन्तु आयु तो अति अल्प है तथा अकेले शब्द-शास्त्र से तो कोई मुक्ति नहीं हो जाती; अत: काल को व्यर्थ न गंवा करके प्रयोजनभूत तत्त्व में बुद्धि लगाना चाहिये।।68।।

हे भव्य! अति सूक्ष्म अगुरूलघु आदि धर्म आत्मा में ही हैं, केवलज्ञान तथा अतिशय निजदर्शन भी आत्मा में ही है और अनन्त आत्मतेज रूप वीर्य भी आत्मा में ही है; परन्तु संसार में जिसकी रति है, वह जीव अपने ऐसे अनंत वैभव को देख नहीं पाता।।78।।

एकाशन-उपवास-व्रत-शील-तप आदि से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल मुक्त स्वरूप आनंदकारी भगवान आत्मा के ध्यान से क्षणमात्र में प्राप्त हो जायेगा।।82।।

मोक्षार्थी सज्जन के लिये 'आत्मा' ये दो अक्षर ही बस हैं; उसमें तन्मय होने वाले को मोक्षसुख हाथ में ही है।।87।।

जीव जब निजस्वरूप को देख पाता है, तब बहुत कष्ट से उपार्जित किये हुए रत्नादि वैभवों को भी इस प्रकार छोड़ देता है, जैसे कुत्ती का दूध।।94।।

अष्टोत्तर-शत (108) पदवाली इस रचना में प्रतिपाद्य-वस्तु उत्कृष्ट सार में सार आत्मतत्त्व है, उसको जो जानेगा-मानेगा, वह तीसरे भव में या अधिक से अधिक आठ भव में **मोक्ष को** पावेगा।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

अर्थ :- श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने बोध न दिया होता तो मुनिजन **सच्चे मार्ग को** कैसे जानते? (दर्शनसार)

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। - श्रीमद् राजचन्द्रजी

(37) प्रवचनसार

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।7।।
चारित्र निश्चय धर्म है, जो धर्म वह 'शम' है कहा ।
है मोह क्षोभ विहीन 'शम', परिणाम निश्चय स्वंय का।।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि शुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिब्बाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं।।11।।
हो धर्म परिणत आत्मा, शुद्धोपयोगी मोक्ष सुख ।
यदि हो तथा उपयोग शुभमय, प्राप्त करते स्वर्ग सुख ।।

अतिशय स्वतः उत्पन्न अनुपम, विषय रहित अनन्त है।
शुद्धोपयोग प्रसिद्ध जीवों के, अखण्डित सुक्ख है ।।13।।

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सब्बगयं।।23।।
है जीव ज्ञान प्रमाण वर्णित, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है।
हैं ज्ञेय लोकालोक इससे, सर्वगत भी ज्ञान है ।।

पुण्यफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।।45।।
हैं पुण्यफल अरहंत उनकी, क्रिया औदयिकी कही ।
मोहादि विरहित हैं इसी से, क्षायिकी मानी गई ।।

सुर असुर नरपति सहज, इन्द्रिय दुःख से पीड़ित सभी ।
सहनीय ना दुख अतः रमते, रम्य विषयों में सभी ।।63।।

है जिन्हें विषयों में रती, जानो वे स्वाभाविक दुखी ।
यदि दुःख स्वाभाविक नहीं, विषयार्थ न व्यापार भी ।।64।।

है सुरों के भी सुख न , स्वाभाविक प्रसिध उपदेश से ।
वे रम्य विषयों में रमें , हैं दुखित वेदन देह से ।।71।।

हैं सुखित सम आसक्त चक्री , शक्री भी देहादि की ।
वृद्धि करें भोगों से जो , उपयोग मूलक शुभमयी ।।73।।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।76।।
परतंत्र बाधासहित वा, विच्छिन्न कारण बंध का ।
है विषम इन्द्रिय-प्राप्त सुख, वह 'दुःख ही' ऐसा कहा ।।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि धोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।77।।
जो 'पुण्य एवं पाप में , अन्तर नहीं ' ना मानता ।
हो मोह से आछत्र घोर , अपार भव में घूमता ।।

यदि त्याग पापारम्भ भी शुभचरित में उद्यममती ।
मोहादि को ना छोड़ता , शुद्धात्म - प्राप्ती ना कभी ।।79।।

जो जानता अरहन्त को , द्रव्यत्व - गुण - पर्याय से ।
वह जानता है आत्मा , हो मोहक्षय तब नियम से ।।80।।

अरहन्त सब ही उस विधि से , नष्ट कर कर्मांश को ।
देकर तथाविध देशना , मुक्ति गये हैं - नमन हो ।।82।।

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।86।।
जिन शास्त्र - प्रत्यक्षादि से , जो अर्थ जाने नियम से।
हो मोहचयक्षय शास्त्र - अध्ययनीय सम्यक् इसलिए।।

अर्थ :- जिन शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले

के नियम से मोहोपचय क्षय हो जाता है। इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये।

दृग मोह से जो रहित , आगम कुशल चरित विराग में ।
आरूढ़ हैं वे ही महात्मा , श्रमण धर्म कहा उन्हें ।।92।।

हैं द्रव्यमय सब अर्थ , द्रव्य गुणात्मक जिनवर कहे ।
उनसे प्रगट पर्याय , पर्ययमूढ़ परसमयी कहे ।।93।।

अर्थ :- पदार्थ द्रव्य स्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं।

जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदब्बा।।94।।
हैं लीन जो पर्याय में वे , परसमय निर्दिष्ट हैं ।
हैं लीन आत्मस्वभाव में वे , स्वसमय मंतव्य हैं ।।

अशुभोपयोग रहित न शुभ , उपयुक्त हो पर-द्रव्य में ।
मध्यस्थ हो ज्ञानात्मक , निज आत्मा ध्याता हूँ मैं ।।159।।

मैं देह न न मन, न वाणी सभी का कारण नहीं।
कर्ता न कारयिता नहीं, कर्ता का अनुमोदक नहीं ।।160।।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।।179।।
है रक्त बाँधे कर्म और , विरक्त छूटे कर्म से ।
ये बंध का संक्षेप है , जीवों का जानो नियम से ।।

छोड़े न ममता देह धन में, मैं हूँ ये ये मेरे हैं ।
वह छोड़कर श्रामण्य को, उन्मार्ग को ही प्राप्त है ।।190।।

नित इस तरह मैं आत्मा को, ज्ञान दर्शनमय अचल ।
हूँ मानता ध्रुव शुद्ध, आलंबन न, इन्द्रिय बिन, महत ।।192 ।।

तन-धन व सुख-दुःख मित्र अरिजन, जीव के ये ध्रुव नहीं।
इस जीव को ध्रुव एक है, उपयोगमय निज जीव ही ।।193 ।।

यह जान जो शुद्धात्मा, ध्यावे सदा परमात्म को ।
सागार या अनगार वह, क्षय करे मोह दुग्रन्थि को ।।194 ।।

जो मोह कलुष विहीन विषय विरक्त रोधक चित्त का।
स्वभाव में समअवस्थित, है वही ध्याता आत्मा का ।।196 ।।

इस तरह जिन जिनदेव, मुनि इस मार्ग में आरूढ़ हो ।
मुक्ति गये, हो नमन उनको, और मुक्तिमार्ग को ।।199 ।।

इसलिये वैसा जानकर, ज्ञायक स्वभावी आत्म को ।
हो उपस्थित ममता रहित , मैं छोड़ता हूँ ममत्व को ।।200 ।।

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरूकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।।202 ।।
वह पूछ बन्धु वर्ग से, गुरू पुत्र पत्नी त्यक्त हो।
स्वीकार कर तप-ज्ञान-दर्शन, चरित वीर्याचार को।।

टीका-जो श्रमण होना चाहता है, वह बंधुवर्ग से इस प्रकार विदा लेता है:- अहो! इस पुरूष के शरीर के बंधुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ! इस पुरूष का आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है, इस प्रकार तुम निश्चय जानो। इसलिये मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि बंधु के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरूष शरीर के जनक के आत्मा! अहो! इस पुरूष के शरीर की जननी के आत्मा! इस पुरूष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित नहीं है। ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिये तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञान ज्योति

प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरूष के शरीर की रमणी के आत्मा! तू इस पुरूष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूति रूपी अनादि-रमणी के पास जा रहा है। अहो! इस पुरूष के शरीर के पुत्र आत्मा। तू इस पुरूष के आत्मा का जन्य नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान। तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ों से, स्त्री से और पुत्र से अपने को छुड़ाता है।

मैं नहीं पर का पर न मेरा, यहाँ कुछ मेरा न पर।
हो निश्चयी ऐसा, जितेन्द्रिय, यथाजात स्वरूपधर ।।204।।

वह जीव जीवे या मरे, हिंसा अयत्नाचार के।
ना बन्ध हिंसा मात्र से, निश्चित प्रयत्नाचार के ।।217।।

है यथाजात स्वरूप लिंग, जिनमार्ग में उपकरण है।
गुरु वचन, विनय व सूत्र अध्ययन, भी कहे उपकरण हैं।।225।।

ऐकाग्रयगत हैं श्रमण , वह अर्थो में निश्चयवान के ।
निश्चित्ति आगम से अतः आगम में चेष्टा श्रेष्ठ है ।।232।।

जो श्रमण आगमहीन वे, ही स्व पर को न जानते ।
तो कर्मक्षय कैसे करें, वे अर्थ को न जानते ? ।।233।।

मुनिराज आगमचक्षु हैं, सब प्राणि इन्द्रियचक्षु हैं।
वा देव अवधिचक्षु हैं, वा सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं।।234।।

आगम पुब्बा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजभो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।।236।।
दृष्टी न आगमपूर्वक, जिसकी यहाँ, उसके नहीं ।
संयम कहें जिनसूत्र, हो तब असंयत कैसे मुनी?।।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भव सयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।।238।।
जो कर्म अज्ञानी खपाता, लाख कोटी भवों में ।
ज्ञानी त्रिधा हो गुप्त वे, क्षय करें मात्र उश्वास में ।।

परमाणु मात्र ममत्व भी , देहादि में जिसके रहे ।
हो सर्व आगमधारि भी वह , पर न मुक्ति को लहे ।।239।।

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठु कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।241।।
है शत्रु - बंधु वर्ग - सम , सुख - दुः ख निंदा - प्रशंसा ।
सम लोष्ट - कंचन श्रमण , के जीवन - मरण सम है अहा ।।

हैं समय में शुद्धोपयोगी , श्रमण शुभ उपयुक्त भी ।
शुद्धोपयोगी निरास्त्रव हैं , शेष उनमें सास्त्रवी ।।245।।

यदि वैयावृति अर्थ उद्यत , कायखेद करे श्रमण ।
वह श्रावकों का धर्म है, आगारि है वह, वह ना श्रमण।।250।।

हो सूत्र संयम तप सहित, पर यदि करे श्रद्धान ना ।
जिन कथित आत्मप्रधान, अर्थों का तो माना श्रमण ना।।264।।

'मैं श्रमण हूँ' ये मान, फिर भी हीन हैं जो गुणों में ।
चाहें गुणाधिक से विनय , वे नन्त संसारी बनें ।।266।।

श्रामण्य में हों अधिक गुण, पर कम गुणी की क्रिया में ।
वर्तें तो मिथ्या सहित वे, चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।।267।।

सूत्रार्थ पद निर्णीत , शमित कषाय तप में अधिक हो ।
पर छोड़ता न संगति , लौकिकों की , ना मुनि तो ।।268।।

निर्ग्रन्थ दीक्षा से सहित , संयम व तप संयुक्त हैं ।
पर रहें ऐहिक कर्म में तो , कहें लौकिक ही उन्हें ।।269।।

जो देख दुखित तृषित क्षुधित को , दुखित मन हो दया से ।
स्वीकार करता है उसे , अनुकम्पा है उस भाव से ।।
अतएव यदि दुख - मोक्ष चाहें , सम गुणों में मुनि रहें ।
या अधिक गुण सम्पन्न श्रमणों , मध्य में ही नित रहें ।।270।।

जो पदार्थों को जान, सम्यक् बाह्य अन्तर संग का ।
कर त्याग ,ना आसक्त, विषयों में, उन्हें है शुद्ध कहा ।।273।।

है शुद्ध के श्रामण्य, दर्शन-ज्ञान कहते शुद्ध के ।
है शुद्ध का निर्वाण ,वे ही सिद्ध उनको नमन है ।।274।।

प्रतिदिन जाप करने योग्य सर्वोत्कृष्ट ——

जाप्य मंत्र

'शुद्ध चिद्रूपोऽहं' – तत्त्वज्ञान तरंगिणी ग्रंथ में अनेक स्थानों से उद्धत्

1. ॐ (एक अक्षर का मंत्र)
2. सिद्ध (दो अक्षर का मंत्र)
3. अरहंत (चार अक्षर का मंत्र)
4. अ सि आ उ सा, नमः (पाँच अक्षर का मंत्र)
5. ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं, नमः (सात अक्षर का मंत्र)

   अर्थ :- ॐ - पंचपरमेष्ठी, **ह्रीं** - चौबीस तीर्थंकर भगवंत, **श्रीं**-केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी के धारी, **क्लीं**-समस्त गणधर महाराज, **अर्हं**-अ से ह तक वर्णमाला की समस्त द्वादशांगमयी जिनवाणी माँ
6. णमोकार महामंत्र (पैंतीस अक्षर का मंत्र)

(38) लाटी संहिता

शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः।
सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं हि तत्।।2-11।।

अर्थ :- जो बिना किसी उपाधि के, बिना किसी उपचार के शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चयनय से निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शन में कोई उपाधि या उपचार नहीं है इसलिये ही वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का होता है। वही कहा है-

शुद्ध आत्मा का निश्चय होना, अनुभव होना, निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है, और शुद्ध आत्मा में लीन होना निश्चय सम्यग्चारित्र है। इसलिये इन निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से कैसे बन्ध हो सकता है?

सम्यग्दृष्टि आत्मा के यद्यपि श्रद्धान आदि गुण होते हैं पर वे उसके बाह्य लक्षण हैं। सम्यक्त्व उन रूप नहीं है क्योंकि वे ज्ञान की पर्याय हैं।।41।।

तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है। वास्तव में वह आत्मानुभूति ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं। यदि उसे सम्यक्त्व माना भी जाये तो वह उसका बाह्य लक्षण है।।42।।

जीवादि पदार्थों के सन्मुख बुद्धि का होना श्रद्धा है। बुद्धि का तन्मय हो जाना रूचि है। 'ऐसा ही है' इस प्रकार स्वीकारोक्ति प्रतीति है और अनुकूल क्रिया चरण है।।2-57।।

ये श्रद्धा आदि चारों पृथक्-पृथक् रूप से अथवा समस्त रूप से सम्यग्दृष्टि के लक्षण भी हैं और नहीं भी हैं। क्योंकि ये सपक्ष और विपक्ष दोनों ही अवस्थाओं में पाये जाते हैं और नहीं भी पाये जाते हैं।।59।।

यदि स्वानुभूति के साथ होते हैं तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूति के बिना वे वास्तव में गुण नहीं है गुणाभास हैं।।61।।

श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में समव्याप्ति है। इसलिये अनुपलब्ध पदार्थ में गधे के सींग के समान श्रद्धा हो ही नहीं सकती।।65।।

स्वानुभूति के बिना केवल श्रुत के आधार से जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थनुगत है तो भी तत्त्वार्थ की उपलब्धि नहीं होने से वह वास्तविक श्रद्धा नहीं है।।66।।

सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है।।77।।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा बन्ध भी है मोक्ष भी है और उसका फल भी है। किन्तु शुद्धनय की अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं।।99।।

समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार रूप से जो जैसा माना गया है वह वैसा ही है, ऐसी बुद्धि का होना आस्तिक्य है। सो सम्यक्त्व का अविनाभावी है जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य।।101+102।।

आदि के दो ज्ञान परपदार्थों का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष हैं तथापि दर्शनमोहनीय के उपशम आदि के कारण स्वानुभव के समय वे प्रत्यक्ष ही हैं। प्रकृत में अपने आत्मा की अनुभूति ही आस्तिक्य नाम का परमगुण माना गया है। फिर चाहे परद्रव्य का ज्ञान हो चाहे मत हो, क्योंकि परपदार्थ पर हैं।।105-106।।

ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम्।
तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम्।।124।।

आगम में लिखा है कि बिना सम्यग्दर्शन के जो व्रत या तपश्चरण की क्रियाओं को धारण करता है उसके सदा पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

अस्तिचात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदौपमम्।।3-13।।

यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैरावालमात्मनि।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम्।।14।।

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला ज्ञान है। वह ज्ञान शुद्ध है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और सिद्धों के समान है।।13।। यह अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव बालकों से लेकर वृद्धों तक समस्त आत्माओं में होता है।।14।।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात्।।209।।
दृग्मोहेऽस्तङ्गते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः।।210।।

मिथ्यात्वकर्म का अनुदय शुद्ध आत्मा के ज्ञान में कारण है और उसका तीव्र उदय इसमें बाधक है, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय होने पर शुद्ध आत्मा के ज्ञान का विनाश देखा जाता है।।209।।

दर्शनमोहनीय का अभाव होने शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है इसलिये चारित्रावरण का किसी भी प्रकार का उदय उसका बाधक नहीं है।।210।।

चारित्रमोहनीय का कार्य आत्मा को चारित्र से च्युत करना है आत्मदृष्टि से च्युत करना उसका काम नहीं, क्योंकि न्याय से विचार करने पर इतर दृष्टियों के समान वह भी दृष्टि है।।212।।

यति के अट्ठाइस मूलगुण होते हैं। वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्ष का मूल होता है। कभी इनमें से न तो कोई कम होता है और न अधिक ही होता है।।243।।

वास्तव में रागादि भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रत से च्युत होना है और रागादि का त्याग करना ही अहिंसा है, व्रत है अथवा धर्म है।।254।।

रागादि भावों के होंने पर कर्मों का बंध नियम से होता है और उस बंधे हुए कर्म के उदय से आत्मा को दुःख होता है इसलिये रागादि भावों का होना आत्मबंध है यह बात सिद्ध होती।।255।।

इसलिये मोहनीय कर्म के उदय के अभाव में जो शुद्धोपयोग होता है उसका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है।।256।।

शुभोपयोग विरूद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करने पर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से बन्ध का कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है।।259।।

बुद्धि दोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एक देश निर्जरा का कारण है क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बंध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है।।260।।

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रूक जाना ही स्वरूपाचरण है, वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है।।261।।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च।।266।।
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक्।
न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत्।।267।।

शुद्ध आत्मा के जानने की शक्ति जो कि ज्ञान में अतिशय लाने वाली लब्धिरूप है वह सम्यक्त्व के होने पर ही होती है, अथवा शुद्धभाव भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता है।।266।। और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शन के बिना होता है तो वह न ज्ञान है, न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करने वाला है।।267।।

कोई मुनि मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। वे यद्यपि ग्यारह अंग के पाठी होते हैं और महाव्रतादि क्रियाओं को बाह्यरूप से पूर्णरूप से पालन करते हैं तथापि उन्हें अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिये वे अपने परिणामों के द्वारा सम्यग्ज्ञान से रहित ही होते हैं।।4-18।।

जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरे के उपदेश के वाक्यों से दूसरे के शरीर में

होने वाले रोगों के दु:खों को जानता है परन्तु वह उन दु:खों का अनुभव नहीं कर सकता। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरूष शास्त्रों में कहे हुए वाक्यों के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्म के उदय से उसका आस्वादन या अनुभव नहीं कर सकता।।26-27।।

इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रत या महाव्रत क्रियाओं को पालन करने वाले इस मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यद्यपि ग्यारह अंक तक का ज्ञान है तथापि शुद्ध आत्मा के अनुभव के बिना वह ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है।।28।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तीर्थंकरों का शरीर, आहारक शरीर, देवों का शरीर और नारकियों का शरीर – इन आठ स्थानों में निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। इनके सिवाय बाकी जीवों के शरीर निगोद राशि से भरे हुए प्रतिष्ठित समझने चाहिए।।31।।

निगोदिया जीवों के एक शरीर में जो अनन्तानन्त जीव होते हैं उनकी संख्या व्यतीत अनादिकाल से तथा आज तक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्या से अनन्तगुणी हैं।।

मुक्ति के मुख कमल को देख...

हे आत्मन्...! तू आत्मा के प्रयोजन का आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनों को छोड़कर केवल आत्मा के प्रयोजन का ही आश्रय कर तथा मोहरूपी वन को छोड़, विवेक अर्थात् भेदज्ञान को मित्र बना। संसार और देह के भोगों से वैराग्य का सेवन कर और परमार्थ से जो शरीर और आत्मा में भेद है, उसका निश्चय से चिन्तवन कर और धर्मध्यान रूपी अमृत के समुद्र के मध्य में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभाव सहित मुक्ति के मुख कमल को देख। *–श्री ज्ञानार्णवजी : आ. शुभचन्द्र स्वामी*

(39) योगसार-प्राभृत

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मनः।
श्रद्धते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः।।1-31।।

अर्थ :- घाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो परम रूप है उसे भव्यजीव भक्ति से श्रद्धान करता है, अभव्य जीव नहीं; कारण कि वह भववर्धक होता है, इसलिये आत्मा से सदा विमुख रहता है।

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागी भूतचेतनैः।
निरवधश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते।।1-34।।

अर्थ :- अपने आत्मा के विचार में निपुण राग रहित जीवों द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान समान जाना जाता है।

यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते।।1-48।।

अर्थ :- जो आत्मा के रूप को छोड़कर पंचपरमेष्ठी की सेवा करते हैं-अरहंतादि का ध्यान करते हैं, वे उत्कृष्ट पुण्य तो बांधते हैं परन्तु पूर्ण कर्मों का क्षय नहीं करते।

परद्रव्यीभवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तकः।
क्षिप्रमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिन्तकाः।।1-51।।

अर्थ :- परद्रव्य की चिन्ता में मग्न रहने वाला आत्मा परद्रव्य जैसा हो जाता है और शुद्ध आत्मा के ध्यान में मग्न रहने वाला आत्मा शीघ्र अपने आत्मतत्त्व को-अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयाः।।4-40।।

अर्थ :- पुण्य-पाप के कारण संसार-वन में प्रवेश होता है, ऐसा देखने वाली जो शुद्ध बुद्धि है वह पुण्य-पाप में भेद नहीं करती-दोनों को समान समझती है।

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः।।5-55।।

अर्थ :- कोई द्रव्य से भोक्ता है भाव से अभोक्ता है, अन्य कोई भाव से भोक्ता होता है द्रव्य से अभोक्ता है।

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं पियासुभि।।5-56।।

अर्थ :- जो द्रव्य से निवृत्त है-अभोक्ता है, वह व्यवहारियों के द्वारा पूज्य है, तथा जो भाव से निवृत्त है, अभोक्ता है, वह मोक्ष के पिपासुओं के द्वारा-मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य होता है।

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः।।6-15।।

अर्थ :- अनेक प्रकार के चारित्राचार में प्रवर्तता हुआ जो संयमी यदि जिनागम को नहीं जानता तो वह चक्षुहीन के समान-अन्धपुरूष के समान आचरण करने वाला है।

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढ़धीः।।6-22।।

अर्थ :- परमात्मदेव देह में स्थित होने पर भी जो देव को अन्यत्र खोजते हैं, मैं ऐसा मानता हूँ कि, वे मूढ़बुद्धि घर में भोजन तैयार होने पर भी भिक्षा के लिये अन्यत्र भटकते हैं।

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयम्,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयम्,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्।।6-49।।

अर्थ :- इस लोक में विद्वान के द्वारा वह कोई भी पदार्थ स्थिर चित्त

से अध्ययन के योग्य, ध्यान के योग्य, आराधने योग्य, पूछने योग्य, सुनने योग्य, अभ्यासने योग्य, संग्रहने योग्य, जानने योग्य, कहने योग्य, प्रार्थने योग्य, प्राप्त करने योग्य, देखने योग्य और स्पर्शने योग्य होता है, जिससे उसके अध्ययनादि से सदा आत्मस्वरूप की स्थिरता वृद्धि को प्राप्त हो।

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वतायाः परं फलम्।
अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः।।7-43।।

अर्थ :- विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल आत्मध्यान में रति-लीनता जानना चाहिये। इसके बिना सभी शास्त्रों का शास्त्रीपना बुद्धिमानों के द्वारा-ज्ञानियों के द्वारा 'संसार' कहा गया है।

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां संमूढचेतसाम्।
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम्।।7-44।।

अर्थ :- जो मनुष्य भले प्रकार मूढ़चित्त हैं उनका संसार 'स्त्री-पुत्रादिक' है, और जो अध्यात्म से रहित (आत्मज्ञान से रहित) विद्वान हैं उनका संसार 'शास्त्र' हैं।

अर्थ :- कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शांति का नाशक, श्रद्धा को भंग करने वाला और अभिमान को बढ़ाने वाला मानसिक रोग है कि जो अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है। इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवों को कुतर्क में अपना मन लगाना योग्य नहीं, बल्कि आत्मतत्त्व में लगाना योग्य है, जो स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि-सदन में प्रवेश कराने वाला है।।7-53।।

भवाभिनन्दनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोकपङ्क्ति कृतादशः।।8-18।।

अर्थ :- कितने ही मुनि परम धर्म का अनुष्ठान करने पर भी 'भवाभिनन्दी'-संसार का अभिनन्दन करने वाले होते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं के वशीभूत होते हैं, और 'लोकपङ्क्ति' का आदर करते हैं अर्थात् लोगों को रिझाने में प्रवर्तन करते हैं।

मूढ़ा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः।।8-19।।

अर्थ :- जो मूढ़दृष्टि (मिथ्यादृष्टि)-लोभ में तत्पर, क्रूर, भीरू (डरपोक), ईर्ष्यालु और शठ-विवेकहीन है-वह निष्फल आरंभ करने वाला-निरर्थक आचरण करने वाला 'भवाभिनन्दी' है।

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौमता।।8-20।।

अर्थ :- अविवेकी साधुओं के द्वारा मलिन अन्तरात्मा युक्त होकर लोगों का आराधन-अनुरंजन अथवा अपनी तरफ आकर्षण करने के लिये जो धर्मक्रिया की जाती है वह 'लोक-पङ्क्ति' कहलाती है।

मायामयौषधं शास्त्रं-शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं-शास्त्रं सर्वार्थसाधकम्।।8-73।।

अर्थ :- मायारूप रोग की दवा शास्त्र है, उत्कृष्ट पुण्यबन्ध का कारण शास्त्र है, सर्वपदार्थों को देखने वाला नेत्र शास्त्र है, तथा सर्व आत्महित के प्रयोजन का साधक शास्त्र है।

स्वाध्याय परमं तपः

जिस जिनागम के द्वारा अतिशय चंचल मन को नियमित किया जाता है, पूर्वोपार्जित कर्म को नष्ट किया जाता है तथा संसार के कारणभूत आस्रव को रोका जाता है, उस पूज्य जिनवाणी का जो उत्तम रीति से अध्ययन किया जाता है उसे स्वाध्याय तप कहते हैं। *-आ. अमितगति सु.र. 888*

(40) समयसार नाटक

(मंगलाचरण)

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार ।
बन्दौं परमानन्दमय, समयसार अविकार ।। 1 ।।

(सम्यग्दृष्टि की स्तुति)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं सिव मारगमैं , जग महिं जिनेसूरके लघु नंदन ।।
सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगटयौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि वंदन।।6 ।।

(सवैया इकतीसा)

स्वारथके-साचे परमारथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहूके विरुद्धि नाहिं परजाय-बुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा,
अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ।।7 ।।

(मिथ्यादृष्टि का लक्षण)

धरम न जानत बखानत भरमरूप, ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी।
भूल्यो अभिमानमैं न पाउ धरै धरनी मैं, हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी।।
फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमैं, ह्वै रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी, ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी।।9।।

(अनुभव का वर्णन)

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावैं विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ।।17।।

(अनुभव की महिमा)

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप।।18।।

(सवैया मनहर)

अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है।।
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीती जोरै,
अनुभौ समान न धरमकोऊ और है ।।19।।

1. जीवद्वार : चिदानन्द भगवान की स्तुति

शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान ।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ।।1।।

(शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वरूप)

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ।।20।।

(परमार्थ की शिक्षा)

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूकै ऐसौ काजु कीजिए ।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए ।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप ,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए ।।24।।

(जिनराज का यथार्थ स्वरूप)

जिनपद नाहिं शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि ।
जिनवर्नन कछु और है , यह जिनवर्नन नाहिं ।।27।।

(निजात्मा का सत्य स्वरूप)

कहै विचच्छन पुरूष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भन्यौ आपनी टेक हौं ।।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है ।।33।।

2. अजीवद्वार : श्री गुरूकी पारमार्थिक शिक्षा

भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे ।

और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौरू आनु रे ।।
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे ।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौंही जानु रे ।।3।।

(जड़-चेतन की भिन्नता)

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि ।
एक ब्रह्म नहिं दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि ।।6।।

3. कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार : पदार्थ अपने स्वभाव का कर्त्ता है

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान।।7।।

(ज्ञान का कर्ता जीव ही है, अन्य नहीं है)

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और।
दरब करम चेतन करै, यह विषहारी दौर।।8।।

(जीव को अकर्त्ता मानकर आत्मध्यान करने की महिमा)

जे न करैं नयपच्छ विवाद, धरैं न विखाद अलीक न भाखैं ।
जे उदवेग तजैं घट अंतर, सीतल भाव निरंतर राखैं ।।
जे न गुनी-गुन-भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जगमैं धरि आतम ध्यान, अखंडित ग्यान-सुधारस चाखैं।।25।।

4. पुण्य-पाप एकत्वद्वार : शिष्य की शंका का समाधान

पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए ।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए ।।
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए ।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए ।।6।।

5. आस्रव अधिकार : अशुद्ध नय से बन्ध और शुद्ध नयसे मुक्ति है

यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख ।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख ।। 13।।

6. संवर द्वार : आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर भेदज्ञान हेय है

भेदग्यान तबलौं भलौं, जबलौं मुकति न होइ ।
परम जोति परगट जहां, तहां न विकलप कोई ।। 7।।

(भेदज्ञान से आत्मा उज्ज्वल होता है)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर ।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर ।।9।।

7. निर्जरा द्वार : चौपाई

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै ।
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढ़निमैं मुखिया ।।11।।

(आत्म-अनुभव ग्रहण करने की शिक्षा)

* जो पद भौपद भय हरै , सौ पद सेऊ अनूप ।
जिहि पद परसत और पद , लगै आपदारूप ।।17।।

(संसार सर्वथा असत्य है)

जब जीव सौवै तब समुझै सुपन सत्य ,
वहि झूठ लागै तब जागै नींद खेइकै ।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज ,
ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै ।।
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै ।
वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच ,
याही भाँति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै ।।81।।

(व्यवहार-लीनता का परिणाम)

लीन भयौ विवहारमैं, उकति न उपजै कोइ ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ ? ।। 22।।

पुनः (दोहा)

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ , करौ विविध विवहार ।
मोख सरूपी आतमा , ग्यानगम्य निरधार ।। 23।।

(ज्ञानी जीव सदा अबंध है)

* ग्यानी ग्यानमगन रहै रागादिक मल खोइ ।
चित उदास करनी करै , करम बंध नहिं होइ ।। 36।।

(ज्ञानी जीव विषयों में निरंकुश नहीं रहते)

ग्यानकला जिनके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमांही, यह विपरीति संभवै नांही।।४१।।

8. बंध द्वार : कर्मबंधका कारण अशुद्ध उपयोग है

कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं।
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं।।
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन,
हिंसासौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोगसौं।
इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं।।4।।

(चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी और अज्ञानी का विचार)

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउकौं।
खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौं।।
दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं।
इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंध के अभाउकौं।।14।।

(उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवों का स्वभाव)

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं किसमिस दाख,
बाहिज अभिंतर विरागी मृद अंग है।
मध्यम पुरुष नारिअरकीसी भांति लियैं,
बाहिज कठिन होय कोमल तरंग है।।
अधम पुरुष बदरीफल समान जाकैं,
बाहिरसैं दीखै नरमाई दिल संग है।
अधमसैं अधम पुरुष पूंगीफल सम,
अंतरंग बाहिज कठोर सरवंग है।।18।।

(उत्तम पुरुष का स्वभाव)

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी।।
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन-वास,
कालसौ कुटुंब-काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी।।19।।

(अधमाधम पुरूषका स्वभाव)

कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि भूंसै स्वान,
रोस करै निर्धन विलोकि धनवंतकौं।

रैनके जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करैं,

मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ ।

हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,

अभिमानी रोस करै देखत महंतकौ ।

सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,

त्यैं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं ।।२२।।

पुनः (सवैया इकतीसा)

सरलकौं सठ कहै वकताकौं धीठ कहै,

विनै करै तासौं कहै धनकौं अधीन है।

छमीकौं निबल कहै दमीकौं अदत्ति कहैं,

मधुर वचन बोल तासौं कहै दीन है ।।

धरमीकौं दंभी निसप्रेहीकौं गुमानी कहैं,

तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है।

जहाँ साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष,

ऐसौ कछु दुर्जनकौ हिरदौ मलीन है ।।23।।

(मूढ़ मनुष्य विषयोंसे विरक्त नहीं होते)

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,

अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है।

कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,

आरे के चलत मानौ काठ सौ कटतु है ।।

ऐते परि मूरख न खोजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है ।
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
बिषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है ।। 26 ।।

(शरीर की अवस्था)

देह अचेतन प्रेत-दरी रज, रेत-भरी मल-खेतकी क्यारी ।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट, उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी ।।
रे जिय! देह करै सुख हानि, इते पर तौ तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै, तूही तजै किन देहकी यारी ।। 38 ।।

(संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान है)

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ ।
धायबो ही धंधा अरू कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार बार आर सहै कायर है मनकौ ।।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकी ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकी ।। 42 ।।

(धन-सम्पत्ति से मोह हटाने का उपदेश)

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसैं जैसै नाक सिनकी।
ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,
नरक की साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी।।

घेरा मांहि परयौ तू विचारै सुखआंखिनकौ ,
माखिनके चूटत मिठाई जैसै भिनकी।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव ,
जगमैं असाता है न साता एक छिनकी ।। 44 ।।

(आत्मस्वरूप की पहिचान ज्ञान से होती है)

केई उदास रहैं प्रभु कारन, केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति, केई पहार चढैं चढ़ि छींकै।।
केई कहैं असमानके ऊपरि, केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै।
मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै।।48 ।।

(आत्मानुभव करनेकी विधि)

प्रथम सुद्रिष्टिसौं सरीररूप कीजै भिन्न ,
तामैं और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये ।
अष्टकर्म भावकी उपाधि सोऊ कीजै भिन्न ,
ताहूमैं सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये ।।
तामैं प्रभु चेतन विराजत अखंडरूप ,
वहै श्रुतग्यानके प्रवांन उर आनिये।
वाहीकौ विचार करि वाहीमैं मगन हूजै ,
वाकौ पद साधिबेकौं ऐसी विधि ठानिये ।। 55 ।।

9. मोक्ष द्वार : छह द्रव्यहीसे जगतकी उत्पत्ति है

एई छहौं दर्व इनहीकौ है जगतजाल ,
तामैं पांच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनंत सत्ता काहूसौं न मिलै कोइ ,
एक एक सत्तामैं अनंत गुन गान है।।

एक एक सत्तामैं अनंत परजाइ फिरै ,
एकमैं अनेक इहि भांति परवान है।
यहै स्यादवाद यहै संतनिकी मरजाद ,
यहै सुख पोख यह मोखकौ निदान है ।।22।।

पुनः (सवैया इकतीसा)

साधी दधि मंथमैं अराधी रस पंथनिमैं,
जहां तहां ग्रंथनिमैं सत्ताहीकौ सोर है।
ग्यान भान सत्तामैं सुधा निधान सत्ताहीमैं ,
सत्ताकी दुरनि सांझ सत्ता मुख भोर है।।
सत्ताकौ सरूप मोख सत्ता भूल यहै दोष,
सत्ताके उलंघे धूमधाम चहूं वोर है।
सत्ता की समाधिमैं बिराजि रहै सोई साहू,
सत्तातैं निकसि और गहै सोई चोर ।।23।।

(सम्यग्दृष्टि जीवोंका सद्विचार)

जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ग्यानकला घट मांहि।
परचै आतमरामसौं, ते अपराधी नांहि।।30।।

पुनः (सवैया इकतीसा)

जिन्हकी चिंहुटि चिमटासी गुन चूनिबेकौं,
कुकथाके सुनिबेकौं दोऊ कान मढ़े हैं।
जिन्हकौ सरल चित्त कोमल वचन बोलै,
सोमदृष्टि लियैं डोलैं मोमकैसे गढ़े हैं।।
जिन्हकी सकति जगी अलख अराधिबेकौं,

परम समधि साधिबेकौं मन बढ़े हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़े हैं।।32।।

10. सर्वविशुद्धि द्वार : अज्ञानी जीव विषयोंका भोगता है, ज्ञानी नहीं है

जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ बुद्धि,
सो तौ विषै भोगनिकौ भोगता कहायौ है।
समकिती जीव जोग भोगसौं उदासी तातैं,
सहज अभोगता गरंथनिमैं गायौ है।।
याही भांति वस्तुकी व्यवस्था अवधारि बुध,
परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।
निरविकलप निरूपाधि आतम अराधि,
साधि जोग जुगति समाधिमैं समायौ है।।7।।

(दुर्बुद्धि की परिणति)

बात सुनि चौंकि उठै बातहीसौं भौंकि उठै,
बातसौं नरम होइ बातहीसौं अकरी।
निंदा करै साधुकी प्रसंसा करै हिंसककी,
साता मानैं प्रभुता असाता मानैं फकरी।।
मोख न सुहाइ दोष देखै तहां पैठि जाइ,
कालसौं डराइ जैसैं नाहरसौं बकरी।
एसी दुरबुद्धि भूली झूठकै झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता जंजीरनिसौं जकरी।।39।।

(क्रिया की निन्दा)

करनीकी धरनीमैं महा मोह राजा बसै ,
करनी अग्यान भाव राकिसकी पुरी है।
करनी करम काया पुग्गलकी प्रतिछाया ,
करनी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ।।
करनीके जालमैं उरझि रह्यौ चिदानंद ,
करनीकी वोट ग्यानभान दुति दुरी है।
आचारज कहै करनीसौं विवहारी जीव ,
करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है।। 97 ।।

पुनः (चौपाई)

* मैं त्रिकाल करनीसौं न्यारा, चिदविलास पद जग उजयारा।
राग विरोध मोह मम नांही, मेरौ अवलंबन मुझमांही।।१००।।

पुनः (सवैया इकतीसा)

जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि आपु ,
समै पाइ अपनौ सुभाउ गहि लीनौ है।
तबहीतैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनौ,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।।
लैबेकौं न रही ठौर त्यागिवेकौं नांहि और,
बाकी कहा उबरयौ जु कारजु नवीनौ है।
संग त्यागि अंग त्यागि वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा सुद्ध कीनौ है।। 109 ।।

(आत्मा के सिवाय अन्यत्र ज्ञान नहीं है)

भेषमैं न ग्यान नहि ग्यान गुरू वर्तन मैं,
मंत्र जंत्र तंत्रमैं न ग्यान की कहानी है ।।
ग्रंथमैं न ग्यान नहि ग्यान कवि चातुरीमैं,
बातनिमैं ग्यान नहि ग्यान कहा बानी है ।।
तातैं भेष गुरूता कवित ग्रंथ मंत्र बात,
इनतैं अतीत ग्यान चेतना निसानी है।
ग्यानहीमैं ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं,
जाकै घट ग्यान सोई ग्यानका निदानी है ।।112।।

(दोहा)

सर्व विसुद्धी द्वार यह, कह्यौ प्रगट सिवपंथ।
कुन्दकुन्द मुनिराज कृत, पूरन भयौ गरंभ ।।129।।

(ग्रन्थकर्त्ता का नाम और ग्रन्थ की महिमा)

कुन्दकुन्द मुनिराज प्रवीन, तिन्ह यह ग्रंथ इहांलौ कीना ।।
गाथा बद्ध सुप्राकृत वानी, गुरूपरंपरा रीति बखानी ।।130।।
भयौ गिरंथ जगत विख्याता, सुनत महा सुख पावहि ग्याता ।।
जे नवरस जगमांहि बखानै, ते सब समयसार रस सानै ।।131।।

12. साध्य-साधक द्वार : धन-सम्पत्तिसे मोह हटाने का उपाय

चेतनजी तुम जागि विलोकहु, लागि रहे कहा मायाके तांई।
आए कहींसौ कहीं तुम जाहुगे, माया रमेगी जहांकी तहांई।।
माया तुम्हारी न जाति न पांति न, वंसकी वेलि न अंसकी झांई।
दासी किये विनु लातनि मारत, ऐसी अनीति न कीजै गुसांई।।7।।

(समताभाव मात्र ही में सुख है)

हांसीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै,
कायामैं मरन गुरू वर्तनमैं हीनता।
सुचिमैं गिलानि बसै प्रापतिमैं हानि बसैं,
जैमैं हारि सुंदर दसामैं छबि छीनता।।
रोग बसै भोगमैं संजोगमैं वियोग बसै,
'गुनमैं गरब बसै सेवा माँहि हीनता।
और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती,
साताकी सहेली है अकेली उदासीनता।।11।।

(सप्त व्यसन के नाम)

जूवा आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी।
एई सात विसन दुखदाई, दुरित मूल दुरगतिके भाई।।27।।

(सप्त भाव व्यसनोंका स्वरूप)

अशुभमैं हारि शुभ जीति यहै दूत कर्म,
देहकी मगनताई यहै मांस भखिवौ।
मोहकी गहलसौं अजान यहै सुरापान,
कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिवौ।।
निरदै है प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धिकौ परखिवौ।
प्यारसौं पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी,
एई सातौं विसन बिडारैं ब्रह्म लखिवौ।।29।।

13. चतुर्दश गुणस्थानाधिकार : जिन-प्रतिबिम्बका माहात्म्य

जाके मुख दरससौं भगतके नैननिकौं,
थिरताकी बानि बढ़ै चंचलता विनसी।
मुद्रा देखि केवलीकी मुद्रा याद आवै जहां,
जाके आगै इंद्रकी विभूति दीसै तिनसी।।
जाकौ जस जपत प्रकास जगै हिरदेमैं,
सोइ सुद्धमति होइ 'हुती जु मलिनसी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सोहै जिनकी छबि सुविद्यमान जिनसी।।2।।

(जिन-मूर्ति पूजकों की प्रशंसा)

जाके उर अंतर. सुद्रिष्टि लहर लसी,
विनसी मिथ्यात मोहनिद्राकी ममारखी।
सैली जिनशासनकी फैली जाकै घट भयौ,
गरबकौ त्यागी षट - दरबकौ पारखी।।
आगमकैअच्छर मरे हैं जाके श्रवनमैं,
हिरदै - भंडारमैं समानी वानी आरखी।
कहत बनारसी बलप भवथिति जाकी,
सोई जिन प्रतिमा प्रवांनै जिन सारखी।।3।।

(पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है)

ग्यान गरब मति मंदता, निठुर वचन उदगार।
रूद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार।। 37।।

ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति : दोहा

घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।
मति - मदिराके पानसौं, मतवाला समुझै न।।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी दानदाताओं की नामावली

11121/- स्व. श्री लख्मीचन्द्रजी वैद्य, खनियाधाना वालों की पुण्य स्मृति में श्री प्रकाशचन्द्रजी अमितकुमार जैन परिवार, गुना (म.प्र.)

5121/- स्व. श्रीमति गेंदीबाई ध.प. फूलचन्द्रजी, महावीर कलेक्शन, गुना (म.प्र.)

5121/- श्री कमलकुमार संतोषकुमारजी, संतोष इलेक्ट्रिकल्स, गुना (म.प्र.)

5000/- श्रीमती पुष्पलता जैन 'जीजीबाई' श्री ए.के. जैन इंजी., छिन्दवाड़ा

2121/- श्री शिखरचन्द्रजी भगवानदासजी मोदी, नागपुर (महा.), श्रीमति शांतिदेवी मातुश्री ऊषादेवी-राजकुमारजी, फर्म श्री बाबूलाल प्रकाशचन्द्रजी, गुना, श्री जैन जागृति महिला मंडल, गुना, श्रीमती मीनादेवी ध.प. श्री केशवदेव जैन, कानपुर।

1521/- श्री प्रदीपकुमारजी गांधी, गुना

1221/- श्रीमति प्रतिभा ध.प. श्री अनिलकुमारजी मडवरिया, गुना, स्व. मांगीलाल जी पहाड़िया की स्मृति में हस्ते श्री पदमकुमारजी विकास पहाड़िया, इन्दौर

1151/- श्रीमति चन्द्रादेवी ध.प. श्री विमलकुमारजी, अशोक नगर

1121/- श्री कमल रेडीमेड परिवार, गुना, श्रीमति चेतना ध.प. पं. श्री राजकुमारजी शास्त्री, गुना, श्रीमति शैलादेवी मातुश्री प्रकाशचन्द्रजी एडव्होकेट, गुना, श्रीमति कलादेवी ध.प. श्री गट्टूलालजी कैंची बीड़ी परिवार, श्रीमति असर्फीदेवी मातुश्री सुबोधकुमार सुनीलकुमार मिठ्या, श्री केवलचन्द्र आनंदकुमारजी सजावट, श्री सुरेशचन्द्र रोहितकुमारजी, हीरावाग, श्रीमति विजयबंसल ध.प. श्री प्रकाशचन्द्रजी बंसल गुना, श्री केवलचन्द्र राकेशकुमारजी 'कुंभराज वाले' उज्जैन, श्री देशराजजी शिक्षक, मठकरी कॉलोनी, गुना, श्रीमति राजकुमारी ध.प. श्री जिनेशचन्द्रजी बांझल, श्रीमति चन्द्रादेवी ध.प. श्री बाबूलालजी चौधरी, श्रीमति मंजूजी जैन एम.पी.ई.वी. गुना, श्री अमोलकचन्द्रजी मनोजकुमारजी, मनोज रेडियो, श्री राजेन्द्रकुमारजी ज्ञान ट्रेडर्स, श्री धनकुमारजी विजयकुमारजी 'मिर्ची वाले', डॉ. प्रमोदकुमारजी जैन, श्री प्रदीपकुमार जैन 'मुरादपुर वाले' श्री गिफ्ट कलेक्शन, स्व. श्रीमति सुशीलादेवी की स्मृति में श्री धर्मचन्द्र सुनीलकुमारजी 'बंधु' परिवार, श्री प्रकाशचन्द्रजी समता ट्रेडर्स, श्री सुरेशचन्द्र अनुरागकुमारजी पारस स्टोर्स गुना, श्रीमति सरोज ध.प. श्री अशोककुमारजी अजय एग्रो, अशोकनगर, श्रीमति कमलादेवी मातुश्री मानकचन्द्र प्रकाशचन्द्र पाटोदी गुना, श्री नेमिचन्द्रजी 'ख्यावदा वाले',

श्रीमति इन्द्रादेवी ध.प. श्री विनयकुमारजी एडव्होकेट, श्रीमति रविकांताजी जैन, शिक्षिका, राद्यौगढ़ श्रीमति अंगूरीदेवी ध.प. श्री प्रकाशचन्द्रजी कैंची बीड़ी गुना, श्रीमति ऊषादेवी ध.प. श्री सुभाषचन्द्रजी भिन्ड वाले, गुना, डॉ. विम जैन सुपुत्र श्रीमति मृदुला-डॉ. विनोद जैन, श्रीमति सरोज ध.प. श्री राजेन्द्रकुमारजी पुलिया, श्रीमति मुन्नीदेवी ध.प. लख्मीचंद्रजी अरिहंत कलेक्शन, श्रीमति चन्द्रलेखा ध.प. स्व. श्री विजयकुमारजी एस.वी.आई., श्रीमति ऊषाजी जैन-डॉ. एम.के. जैन, श्री कबूलचन्द्र महेन्द्रकुमारजी लालोनी वाले, श्रीमति विषम जैन ध.प. श्री नेमीचन्द्रजी एडव्होकेट, श्रीमति शीलादेवीजी ध.प. गिरनारीलालजी जैन क्लॉथ किंग, श्रीमति विजया ध.प. श्री सुगनचन्द्रजी 'बंधु', श्रीमति कल्पना ध.प. श्री विनोदकुमारजी 'बंधु', श्री सुगनचन्द्रजी 'बंधु', श्री विनोदकुमारजी 'बंधु', श्री सचिनकुमार सुपुत्र श्री सुगनचन्द्र 'बंधु', श्रीमति कमलश्री ध.प. श्री सागरमलजी जैन गोयल गुना, श्रीमति सुशीलादेवी ध.प. श्री राजेन्द्रकुमारजी सिंरोज, श्रीमति कुसुमदेवी ध.प. श्री सुभाषचंद जैन भोपाल, श्रीमति सरोजदेवी ध.प. श्री सुमतकुमार जैन ललितपुर, श्री लख्मीचन्द्र राकेशकुमारजी चौधरी ट्रेक्टर्स गुना, डॉ. आर.के. जैन, श्रीमति विजया-इंजी. विजयकुमार जैन, गुना।

श्रीमति सुनीता-बागमल प्रदीपकुमार पाटौदी, गुना श्री पदमचन्द्रजी जैन सिरोंज वाले, श्री सुभाषचन्द्रजी साबुन वाले, श्रीमति गिन्नीदेवी ध.प. श्री सुगनचन्द्रजी राखन, श्रीमति शोभा ध.प. श्री विनोदकुमार राखन, गुना

श्रीमति मोना जैन, अशोकनगर

श्री राजमलजी महावीरकुमारजी, वेलकम प्रॉपर्टी गुना

श्रीमति कांता जैन ध.प. श्री प्रकाशचन्द्रजी, अशोकनगर

श्री महावीरकुमारजी पान वाले गुना, श्रीमति डॉ. एस. पी.जैन गुना

श्री अजयकुमारजी जैन हौजरी, गुना, श्री वीरेन्द्रकुमारजी शिक्षक, डॉ. प्रेमचन्द्रजी जैन, पं. श्री मांगीलालजी सुशीलकुमारजी, श्रीमति मीरा-आनंदकुमारजी पिपरई वाले, श्री दिनेशकुमारजी लुकवासा वाले, श्रीमति रेखाजी गजनाई वाले, श्रीमति किरण मातुश्री गौरव जैन, श्री केवलचन्द्रजी अध्यापक, श्रीमति कांता ध.प. श्री सुगनचन्दजी चौधरी मोहल्ला, श्रीमति देवी मातुश्री नवीन कंगन स्टोर्स, श्रीमति कमलेश ध.प. श्री रमेशचन्द्रजी कमल रेडीमेड, श्रीमति चन्द्रादेवी कुंभराज वाली, श्रीमति कुसुमदेवी ध.प. श्री कोमलकुमारजी सुपारी वाले, श्रीमति राजकुमारीजी मातुश्री प्रमोदकुमारजी शिमला, श्रीमति रवि ध.प. श्री प्रदीपकुमार ख्यावदा वाले, गुना।

सिद्धक्षेत्र सोनागिर पर्वत पर स्थित अनेकानेक भव्य जिनालय

आचार्य कुन्दकुन्द नगर सोनागिर में स्थित श्री पंचतीर्थ (पहाड़ी)
श्री बाहुबली ध्यान मंदिर, श्री महावीर मानस्तंभजी
श्री सीमंधर समवशरण एवं श्री आगम जिनमंदिर